सन्मति-साहित्य रत्न माला का ५२ वाँ रत्न

नय-वाद

लेखक
मुनि श्री फूलचन्द्र जी म० 'श्रमण'

सम्पादक
श्री विजय मुनि शास्त्री साहित्य रत्न

श्री सन्मति ज्ञान-पीठ
लोहामण्डी आगरा

प्रकाशक—
सन्मति ज्ञान पीठ,
लोहामण्डी, आगरा ।

प्रथम पदार्पण
जनवरी सन् १९५८
मूल्य १ रु० ५० नए पैसे

मुद्रक—
कल्याण प्रिंटिङ्ग प्रेस,
राजामण्डी, आगरा ।

द्रव्य सहयोग दाता

धर्मशीला, माता श्री गौरा देवी जी
लुधियाना (पंजाब)

सहृय धन्यवाद

कर दार्शनिक साहित्य के भण्डार को एक महत्त्वपूर्ण देन दी है।

आज का यह अणुयुग एवं भूतनिक युग भले ही भौतिक विकास की ओर तीव्रगति से गतिमान हो, परन्तु उसके समक्ष एक प्रश्न खड़ा रहता है कि वह मानव कल्याण के लिए क्या कुछ दे रहा है, या दे सकता है? निःसंदेह यह कहने के लिए मैं बाध्य हूँ कि जब तक मानव समाज की अनेकान्तदृष्टि से विचार शुद्धि एवं स्याद्वाद से भाषा शुद्धि नहीं होगी, तब तक मानव जीवन के कल्याण की दिशा स्थिर न हो सकेगी। अस्तु पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों को भी अनेकान्त के समन्वय मूलक साँचे में ढालने का आज शुभावसर आ चुका है। परन्तु यह शुभानुष्ठान किसी समर्थ विद्वान की राह देख रहा है।

आज हिन्दी राष्ट्र भाषा के पद पर प्रतिष्ठित है। अतएव हिन्दी भाषा में भी अनेकान्तवाद के जनोपयोगी विविध साहित्य की सृष्टि अत्यावश्यक हो गई है। परन्तु इधर हिन्दी भाषा में अनेकान्तदृष्टि, स्याद्वाद और नयवाद पर पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य का 'जैन-दर्शन' एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। मुनिराज श्री न्यायविजय जी का 'जैन-दर्शन' भी सामान्य परिचयात्मक एक अच्छा ग्रंथ है।

मुनि श्री फूलचन्द्र जी श्रमण की प्रस्तुत पुस्तक 'नयवाद' जिज्ञासुओं को अनेकान्तवाद में प्रवेश करने के लिए एक सरल एवं सुबोध साधन सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नहीं है। संवाद शैली में विषय को सुगम करने का प्रयत्न स्तुत्य है। अहिंसा आदि पंच संवर पर सप्त नयों की अवतारणा किस प्रकार हो सकती है? यह परिशिष्ट में देकर मुनि श्री ने नयों की विवेचना का विस्तृत क्षेत्र विद्वानों के समक्ष उपस्थित किया है। कहीं कहीं विचारों में मतभिन्नता होते हुए भी पुस्तक उपयोगी है।

हिन्दू युनिवर्सिटी बनारस।
ता० ३-१-५८

— दलसुख, मालवणिया

प्रकाशकीय

सन्मति ज्ञान-पीठ के चमकते-दमकते और जीवन विकास के लिए सत्प्ररणा देने वाले सुन्दर प्रकाशनों की लडी की एक कडी 'नय-वाद' भी विचार प्रवण अध्येताओं के कर कमलो में आ पहुँचा है।

जन दर्शन के प्राण अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद के गम्भीर एव विराट रहस्य को समझाने के लिए नय-वाद' आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवाय भी है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने 'नय-वाद' जसे गुरु गम्भीर विषय का सरल और सुबोध रूप में पाठकों के सम्मुख रखकर साहित्य जगत् की अनुपम सवा की है।

एक बात—जिसे भूलना भी भूल होगी, वह यह है कि पुस्तक के प्रकाशन में द्रव्य दान देने वाले व्यक्ति को भुलाया नहीं जा सकता। लुधियाना जैन समाज के प्रमुख व्यक्ति स्वर्गीय लाला नौहरियामल जी को कौन नहीं जानता ? सन्तों की सवा और समाज की सेवा में आपकी विशेष अभिरुचि थी। तन, मन और धन से आपने सत्य धर्म की सवा की थी।

आपकी धर्मपत्नी धर्मशाला श्रीमती गौरां देवी जी भी सन्त भक्ति, समाज सवा और धर्म अभ्युदय में आप के समान ही सदा अग्रसर रहती हैं। प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में श्रीमती गौरा देवी ने एक सहस्र का दान देकर साहित्य की सुन्दर सवा की है। सन्मति ज्ञान पीठ आप के इस धर्ममय अथ सहयोग का धन्यवाद करता है।

श्रीमती गौरादेवी जी के तीन पुत्र रत्न हैं—श्री रामप्रसाद जी, श्री गोवर्धनदास जी और श्री केदारनाथ जी। तीनों भाई धर्म-प्रेमी, समाज सेवी और विनय विनम्र हैं। मुझे आशा ही नहीं, पूरा

विश्वास है कि आप तीनों भाई भी अपने महान् पिता के तुल्य ही सन्त भक्ति, समाज सेवा और धर्म विकास के कार्यों में अभिरुचि रत रहेंगे।

आशा है प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन समाज के लिए शुभकर एवं हितकर रहेगा।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में श्री लक्ष्मीनारायण जी पाण्डे ने सुन्दर छपवाने में उदारता का परिचय दिया है। श्रीयुत बाबूराम जी शर्मा का सहयोग स्मरणीय रहेगा। शर्मा जी के सहयोग के बिना पुस्तक इतनी सुन्दर नहीं बन सकती थी।

मंत्री

विजयसिंह दूगड

दिशा-संकेत

दृष्टि-कोण—मानव का स्वस्थ एवं व्यापक दृष्टि-कोण ही उसे सत्य की ओर ले जाता है। सत्य-विज्ञान, व्यापक अनन्त और अखण्ड होता है। परन्तु सामान्यतः मानव का परिमित ज्ञान उस सम्पूर्ण रूप में जान नहीं पाता। खण्ड रूप में अथवा अनेक अंशों में ही वह वस्तु का परिबोध कर पाता है। सत्य के परिज्ञान के लिए, किंवा ज्ञात सत्य को जीवन के समतल पर उतारने के लिए व्यापक दृष्टि-कोण की आवश्यकता ही नहीं, अनिवार्यता भी है।

व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठी—जीवन विकास की यह क्रम-पद्धति है। अनेकान्त की सर्वतोमुखी अनाग्रह दृष्टि जैन धर्म का सर्व महिम्न अहिंसा सिद्धान्त, और जैन परम्परा का चिरागत समन्वयवाद—ये तीनों मिल कर एक ही काम करते हैं। और वह यह है कि व्यष्टि अपनी क्षुद्र सीमा में बन्द न हो जाए, समष्टि व्यष्टि के विकास मार्ग में चट्टान बन कर उसके विकास को अवरुद्ध न करे अपितु एक दूसरे से समझौता करके दोनों परमेष्ठी के रूप में परिणत हो जाएँ, परम *ज्योति बन जाएँ।*

वस्तु-तत्त्व—इस सुन्दर एवं सर्व हितकर विशाल दृष्टि-कोण को जीवन में उतारने से पूर्व वस्तु-तत्त्व के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। जैन दर्शन मत इस जगत की प्रत्येक वस्तु सत् है शाश्वत है, अनन्त है। प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। वह कभी नहीं रही—यह नहीं कहा जा सकता। वह कभी नहीं रहेगी—यह नहीं कहा जा सकता। वह नहीं है—यह भी नहीं कहा जा सकता। कहा यह जाएगा कि—"वह थी है, और रहेगी।" भूत वर्तमान और भविष्यमाण—इन तीनों कालों में कभी भी उसका अभाव नहीं होता।

हाँ तो, वस्तु सत् है, शाश्वत है नित्य है—परन्तु कूटस्थ नित्य नहीं,—परिणामी नित्य है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का विगम, उत्तर पर्याय का उत्पाद होता रहता है।

अस्तु, द्रव्य दृष्टि से वस्तु नित्य है, विगम और उत्पाद की दृष्टि से, अर्थात्—पर्याय दृष्टि से परिणामी प्रतिक्षण बदलने वाली भी है। कनक के कंगन को तोड कर उसका मुकुट बनवा डाला। हुआ क्या? आकृति बदल गई, परन्तु उसका कनकत्व नहीं बदला। वह तो ज्यों का त्यों है। जैसा पहले था वैसा अब भी। सिद्धांत यह रहा कि—"द्रव्य नित्य, आकृति पुनरनित्या।"

प्रमाण और नय—अनंत धर्मात्मक वस्तु का सम्यग्ज्ञान दो से होता है—प्रमाण से और नय से। अनन्त धर्मात्मक वस्तु तत्व के समग्र धर्मों को अथवा उसके अनेक धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण होता है, और उस वस्तु के किसी एक ही धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञान, नय कहा जाता है।

'अयंघट'—यह ज्ञान प्रमाण है। क्योंकि इस में घट के रूप, रस, स्पर्श और गन्ध तथा कनिष्ठ ज्येष्ठ आदि समग्र धर्मों का परिबोध हो जाता है। परन्तु जब यह कहा जाता है,—'रूपवान् घट' तब केवल घट के अनन्त धर्मों में से रूप का ही परिज्ञान होता है उसके अन्य धर्म रस, स्पर्श और गन्ध आदि का नहीं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के परिज्ञान में अन्य कल्पना—यही वस्तुतः नय है। अतः अंशी के किसी एक अंश का ज्ञान 'नय' और अनेक अंशों का ज्ञान 'प्रमाण' होता है।

नय-वाद—'नय-वाद' वस्तुतः जैन दर्शन की अपनी एक विशिष्ट और व्यापक विचार-पद्धति है। जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु का विश्लेषण 'नय' से करता है। जैन दर्शन में एक भी सूत्र और अर्थ ऐसा नहीं है, जो नय शून्य हो। विशेषावश्यक भाष्य में यह तथ्य इस प्रकार है—

"नत्थि नएहि विहूणं,
सुत्तं अत्थो य जिण-मए किंचि।"

जन दार्शनिकों के समक्ष एक प्रश्न बड़ा ही जटिल, साथ ही गम्भीर था कि नय क्या है ? नय प्रमाण है किंवा अप्रमाण ? यदि वह प्रमाण है, तो प्रमाण से भिन्न क्यों ? और यदि वह अप्रमाण है, तो वह मिथ्या ज्ञान होगा। और मिथ्या ज्ञान के लिए विचार जगत् में क्या कहीं स्थान होता है ?

इन प्रश्नों का मौलिक समाधान जैन दार्शनिकों ने बड़ी गम्भीरता और सतर्कता से किया है। वे अपनी तर्क शैली में कहते हैं—

"नय न प्रमाण है, और न अप्रमाण। परन्तु प्रमाण का एक अंश है। सिंधु का एक बिंदु न सिंधु है, और न असिंधु—अपितु वह सिंधु का एक अंश है। एक सैनिक को सेना नहीं कह सकते, परन्तु उसे असेना भी तो नहीं कह सकते। क्योंकि वह सेना का एक अंश तो है ही। नय के सम्बन्ध में भी यही सत्य है।"

प्रमाण का विषय अनेकान्तात्मक वस्तु है, और नय का विषय है, उस वस्तु का एक अंश।

यदि नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही अंश (धर्म) को ग्रहण करता है, तो वह मिथ्या ज्ञान हो रहेगा। फिर उस से वस्तु का यथार्थ बोध कैसे होगा ?

इस प्रश्न का उत्तर भी जैन दार्शनिकों ने अपनी उसी सत्य मूलक तर्क शैली पर दिया है—

"नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक अंश का ही ग्रहण करता है, यह सत्य है। परन्तु इतने मात्र से ही वह मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता। एक अंश का ज्ञान यदि वस्तु के अन्य अंशों का निषेधक हो जाए, तभी वह मिथ्या होगा। किन्तु जो अंश ज्ञान, अपने से व्यतिरिक्त अंशों का निषेधक न होकर केवल अपने दृष्टि-कोण को ही व्यक्त करता है तो वह मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता।

हाँ, जो नय अपने स्वीकृत अंश का प्रतिपादन करते हुए यदि अपने से भिन्न दृष्टि कोण का निषेध करते हैं, तो निम्न वे मिथ्या किंवा

में प्रारम्भ किया, और मुझे प्रसन्नता है कि उसे मैं यथा शक्ति पूर्ण कर सका हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक की भाषा तथा शैली के सम्बन्ध में मैंने यहाँ से लेखक मुनि जी से पूछा था कि—क्या इसको नया रूप दे दिया जावे ? परन्तु यह बात स्वीकृत न हो सकी। फलतः उन्हीं की भाषा में और बहुत कुछ उन्हीं की शैली में आवश्यक फेर-बदल के साथ पुस्तक को सजा लिया गया है। यद्यपि उनके भावों में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं डाला गया है, फिर भी सहृदय पाठक यदि कभी 'सम्यक दर्शन' में पूर्व प्रकाशित लेखों के साथ इस पुस्तक की तुलना करेंगे, तो उन्हें अवश्य ही कुछ आवश्यक अन्तर दीख पड़ेगा। पुस्तक के प्रकाशन में श्री अखिलेश मुनि जी महाराज का दिशा-दर्शन भी मेरे काम को सुन्दर बनाने में सहयोगी रहा है।

पुस्तक के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ और कैसे कहूँ? इसका निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। हाँ इतना कहने की अभिलाषा अवश्य रखता हूँ कि लेखक मुनि जी अपने प्रतिपाद्य विषय के विज्ञ अध्येता हैं। उन्होंने इस दिशा में काफी गहराई तक अभ्यास किया है। वस्तुतः उनका श्रम प्रशंसनीय है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, अपने ढंग की हिन्दी में यह प्रथम कृति है।

अस्तु, यदि पाठक प्रस्तुत पुस्तक को मनोयोग से पढ़ेंगे, तो उनके ज्ञान की अभिवृद्धि होगी, और लेखक मुनि जी का श्रम भी सफल होगा।

जैन भवन
लोहामंडी, आगरा
१ जनवरी १९५८

विजय मुनि

कहाँ क्या है ?

विषय | पृष्ठ संख्या

उ प क्र म

जेण विणा लोगस्स वि,
ववहारो सव्वहा न निव्वडइ ।
तस्स भुवणेक्क-गुरुणो ,
णमो अणेगंत वायस्स ॥

— आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्यय ।
तत सर्वं मृषोक्त स्यात् तदयुक्त स्व-घातत. ॥

— आचार्य समन्त भद्र

आपकी अनेकान्त-दृष्टि सच्ची है, इससे विपरीत जो एकान्त मत है, वह शून्य है, अर्थात्-असत् है। अत जो कथन अनेकान्त दृष्टि से रहित है, वह सब मिथ्या है, क्योकि वह अपना ही घातक है।

१

उपक्रम

भारतीय-संस्कृति में, वसन्त-समय को मधुमास कहा गया है। वसन्त समय सुन्दर,सुरभित और सरस होता है। जिस समय प्रकृति के प्रांगण में वसन्त समवतरित होता है, उस समय सर्वत्र नया जीवन, नयी चेतना और नया जागरण प्रादुर्भूत हो जाता है। प्रकृति के कण-कण में आनन्द, हर्ष और उल्लास प्रकट होने लगता है। अणु से महान् और महान् से अणु समस्त प्रकृति-जगत् अभिनव सौन्दर्य एवं अद्भुत माधुर्य से भर जाता है। मधु मास, अर्थात् वसन्त आनन्द का प्रतीक माना गया है।

सुरभित वसन्त का सुन्दर समय था। जगती-तल पर चारों ओर हरियाली का प्रसार था। तरु और लताएँ पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होकर आनन्द में झूम रहे थे। अभिनव किसलयों के सौंदर्य से, सुमनों के सौरभ से और फलों के मधुर रस से तरु और लताएँ मानो, जन-सेवा करने का सौभाग्य सूचित कर रही थी।

वसन्त-काल का सुरभित मधु-माग पथिक-जनो के श्रम को अपने अद्भुत सौन्दर्य से, मलय पवन के शीतल एव मन्द झकोरो से और सुमनो की सुगन्धि से दूर कर रहा था।

सहकार-तरुग्रो पर नाचती-कूदती कोकिलें अपनी माधुर्य पूर्ण स्वर-लहरी से सम्पूर्ण वन-प्रान्त को गुजरित कर रही थी। कोकिल का मधुर कूजन वसन्त के अस्तित्व का जय घोष कर रहा था।

कल कल करती सरिताएँ अपनी शीतल एव निर्मल जल धारा से आतप-तापित शुष्क भूमि को सस्य-श्यामला बनाने के हर्ष मे, अपनी मस्ती मे झूमती बही चली जा रही थी। मानो वे 'सरिता पति' से मिलने के लिए उतावली होकर भागी चली जा रही हो?

बागवान अपने बाग को सँवारने-सजाने मे मस्त था, और किसान अपने खेतो मे आशा-भरे हृदयों से व्यस्त थे। किसान अपने खेत के हर दाने मे अपना आशा पूर्ण भविष्य निरख रहा था, बागवान को अपने बाग के हर पौधे मे भविष्य की सुनहरी आशा दीख रही थी।

मधु मास के सुरभित इस वन प्रान्त के एक भाग मे, हरे-भरे घटादार वृक्ष की सघन छाया मे एक निर्ग्रन्थ योगीराज तपस्वी अपनी ध्यान-मुद्रा मे सलीन था। एकान्त में मानो वह वाह्य सृष्टि के सौन्दर्य से भी अति महान् अन्त-सौन्दर्य का दर्शन कर रहा हो?

सध्या था स्वर्णिम-सूर्य अपनी सुवर्णमयी किरणो को तरु शिखरो पर बिखेरता हुआ, अस्ताचल की ओर तेज गति

में बढ़ रहा था। खग कुलों के मधुर कूजन से सम्पूर्ण वन-प्रान्त मुखरित और प्रतिध्वनित हो उठा।

गुरुकुल का प्रधान अध्यापक अपने सुयोग्य छात्रों के साथ ताजा पवन सेवन के लिए वन प्रान्त के किसी भाग में निर्मित 'देव-रमण' उद्यान में जा पहुँचा। कतिपय छात्र पहले ही वहाँ जम बैठे थे, अपनी पाठ्य-पुस्तका का अध्ययन, मनन और चिन्तन कर रहे थे। परिशीलन के लिए एकान्त स्थल अत्यन्त उपयुक्त होता है।

'देव-रमण' उद्यान में इधर-उधर बिछे शिला-पट्टों पर छात्र और उनका अध्यापक भी यथास्थान बैठ गए थे। बात चीत के प्रसंग में चर्चा चल पड़ी, कि वस्तु का सम्यग् ज्ञान कैसे होता है? किसी भी वस्तु का सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने के लिए क्या-क्या साधन अपेक्षित हैं? बुद्धिमान् मनुष्य जब किसी विषय पर चर्चा वार्ता करते हैं, तब कोई न कोई तथ्य अवश्य ही निकलता है।

एक छात्र जो असाधारण बुद्धिमान् था। बोला—"प्रमाण और नय से वस्तु का सम्यग् ज्ञान होता है। वस्तु कहीं पर भी, किसी भी प्रकार की क्यों न हो, उसका परिज्ञान प्रमाण और नय से ही हो सकता है। बिना प्रमाण और नय के किसी भी वस्तु का परिज्ञान सम्भव नहीं है।"

दूसरे छात्र ने बीच में ही प्रतिप्रश्न करते हुए कहा—"प्रमाण और नय में क्या भेद है? प्रमाण और नय का क्या लक्षण है?

प्रथम छात्र ने समाधान करते हुए कहा—"प्रमाण और नय दोनों ज्ञान ही हैं। फिर भी दोनों में कुछ भेद अवश्य है।" वह इस प्रकार है—

"जो ज्ञान वस्तु के अनन्त या सब अंशों का ग्रहण करता है, वह प्रमाण है, और जो ज्ञान वस्तु के किसी एक अंश को ग्रहण करता है, वह नय है।"

धीरे-धीरे चर्चा का मोड़ नय स्वरूप पर आ लगा। नय कितने हैं? और उनके लक्षण क्या हैं?

नय-स्वरूप

नत्थि नएहिं विहुणं,
सुत्त अत्थो य जिण मए किंचि ।

—विशेषावश्यक भाष्य

नयास्तव स्यात् पदलाञ्छना इमे,
रसोपविद्धा इव लोह-धातव ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो ,
भवन्तमार्या प्रणता हितैषिण ॥

— आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

"जिस प्रकार स्वर्ण-रस के सयोग से लोह धातु (स्वर्ण बनकर) अभीष्ट फल देने वाले बन जाते है, उसी प्रकार आपके नय भी 'स्यात्' शब्द लगने पर अभीष्ट फल देने वाले हो जाते हैं। अत अपना हित चाहने वाले भक्त-जन आप को सभक्ति नमस्कार करते हैं।"

२ :

नय-स्वरूप

प्रथम छात्र

पहला छात्र विनीत स्वर में बोला—प्रिय साथियो ! यद्यपि नय का विषय अत्यन्त विस्तृत और साथ ही अत्यन्त गम्भीर भी है, तथापि इस विषय पर मैं अपना विचार व्यक्त करता हूँ। मेरे विचार में नय का स्वरूप यह है—

"जिसके द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक पर्याय का निश्चय किया जाए, वह नय है।"—१

द्वितीय छात्र

दूसरा छात्र बोला—आपने कहा वह भी ठीक है, परन्तु नय का यह लक्षण भी हो सकता है—

"वस्तु-तत्त्व के ज्ञाता का अभिप्राय विशेष नय कहा जाता है।"—२

१—'नीयते परिच्छिद्यते अनेन इति नय ।' —नय रहस्य

२—'ज्ञातुरभिप्रायो नय ।'

की विशेष रुचि देखकर मुझे भी कुछ कहने का उत्साह उत्पन्न हुआ है। व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से 'नय' शब्द कैसे बना है? और उसके कितने अर्थ होते हैं? इस पर मैं अपने विचार व्यक्त कर रहा हूँ।"

नय—

'नय' शब्द 'णीञ् प्रापणे' धातु से कृदन्त का 'अच्' प्रत्यय लगने पर सिद्ध होता है। 'नय' शब्द के मुख्य रूप से इतने अर्थ होते हैं—नीति, गति, विधि और मार्ग आदि।

नीति—

जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र को विकास की ओर ले जाए, अभ्युदय की ओर अग्रसर करे, वह नय या नीति कही जाती है। नीति दो प्रकार की होती है—राज नीति और धर्म नीति। राजनीति का अन्तर्भाव साम, दाम, दण्ड और भेद में हो जाता है। धर्म-नीति का अन्तर्भाव सात नयों में होता है।

गति—

स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना। सामान्य से विशेष की ओर जाना। साधक से सिद्ध की ओर जाना। देह से विदेह की ओर जाना।

विधि—

प्रकार या तरीका। सिद्धान्त और सिद्धान्ताभास परखने की पद्धति।

मार्ग—

विचार करने के प्रकार, दृष्टि-कोण। जैसे—उद्यान में जाने के अनेक मार्ग होते हैं, कोई पूर्व से जाता है, कोई उत्तर से, कोई पश्चिम से और कोई दक्षिण से। किन्तु अन्दर जाकर वे सब मार्ग परस्पर मिल जाते हैं, इसी प्रकार एक ही वस्तु के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टि-कोण हो सकते हैं। परन्तु उनका समन्वय भी हो जाता है। इस समन्वय सिद्धान्त को स्याद्वाद अथवा कथंचिद्वाद कहते हैं। समन्वय-मार्ग को नय-मार्ग भी कहा जाता है।

स्याद्वाद एवं नय-वाद से ही विभिन्न मतों का, विभिन्न विचारों का समन्वय किया जा सकता है। जो नय एक-दूसरे के पूरक हैं, सहयोगी हैं, वे स्वपरोपकारी सुनय कहे जाते हैं, और जो परस्पर एक दूसरे का विरोध करते हैं, वे प्रतिद्वन्द्वी हैं, वे स्वपर प्रणाशी दुनय कहे जाते हैं। १

१—य एव नित्य-क्षणिकादयो नया,
मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर प्रणाशिनः।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुने,
परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिणः॥
—आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भू-स्तोत्र।

अनेकान्तात्मक वस्तु, गोचर सर्व-संविदाम् ।
एकदेश-विशिष्टोऽर्थो, नयस्य विषयो मत ॥

— आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

"अनेक-धर्मों से विशिष्ट वस्तु, प्रमाण स्वरूप ज्ञान का विषय है, और किसी एक धर्म से विशिष्ट वस्तु, नय का विषय माना जाता है।"

• ३

प्रमाण और नय

प्रश्न—क्या प्रमाण और नय परस्पर सर्वथा भिन्न हैं, अथवा सर्वथा अभिन्न हैं ?

(अ) यदि सर्वथा अभिन्न है, तो प्रमाण कौन से ज्ञान का विषय है, और नय कौन-से ज्ञान का ?

(ब) यदि सर्वथा अभिन्न हैं, तो प्रमाण से ही कार्य-सिद्धि हो सकती है, *नय की आवश्यकता ही क्या ?*

(स) यदि दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं, तो प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान— चार प्रकार का होता है। और नय सात प्रकार का होता है। फिर दोनों एक-दूसरे के पर्याय-वाचक कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रश्न की समस्या का समुचित समाधान स्याद्वाद के द्वारा हो सकता है। अर्थात्—सप्त-भंगी के तीसरे भंग से उक्त समस्या सुलझाई जा सकती है। तीसरा भंग है—कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न। जैसे कि शाखा-

पशाखाएँ वृक्ष से भिन्न भी हैं, और अभिन्न भी। अर्थात्–शाखाओं का वृक्ष नहीं कह सकते, और न अवृक्ष, अर्थात्—वृक्ष भिन्न भी नहीं कह सकते।

प्रमाण यदि अंग है, तो नय उपांग है। प्रमाण यदि समुद्र है, तो नय तरंग निकर। प्रमाण यदि सूर्य है, तो नय रश्मि-जाल। प्रमाण यदि वृक्ष है, तो नय शाखा समूह। प्रमाण यदि हाथ है, तो नय अंगुली। प्रमाण यदि जुलाहे का ताना है, तो नय बाना। प्रमाण यदि व्यापक है, तो नय व्याप्य है। प्रमाण नय में समाविष्ट नहीं है, बल्कि नय ही प्रमाण में समाविष्ट है। प्रमाण का सम्बन्ध पाँच प्रकार के ज्ञान से है, जब कि नय का सम्बन्ध केवल श्रुत-ज्ञान से ही है—अन्य से नहीं। अर्थात्—पाँचों ज्ञानों को प्रमाण कहते हैं, और नय, श्रुत-ज्ञान रूप प्रमाण का अंश विशेष है।

अतः नय, प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नहीं है। अभिन्न भी नहीं है, क्योंकि प्रमाण का अर्थ है—जिस ज्ञान के द्वारा वस्तु-तत्त्व का निश्चय किया जाए, अर्थात्—सर्वांश-ग्राही बोध को प्रमाण कहते हैं।

नय का अर्थ है—जिस ज्ञान के द्वारा अनन्त-धर्मों में से किसी विवक्षित एक धर्म का निश्चय किया जाए, अर्थात्–अनेक दृष्टि कोण से परिष्कृत वस्तु-तत्त्व के एकांश ग्राही ज्ञान को नय कहते हैं।

अतः नय, प्रमाण से सर्वथा अभिन्न भी नहीं है।

प्रमाण नय का वाचक नहीं है, तथैव नय भी प्रमाण का वाचक नहीं है। जैसे समुद्र के पर्याय वाचक नाम और

है, तथा तरगो के पर्याय-वाचक नाम और हैं। तरगें समुद्र से भिन्न नही हैं, और समुद्र भी तरगो से भिन्न नही हैं, तथैव अभिन्न भी नही कह सकते। क्योकि समुद्र के तथा तरगो के नाम भिन्न-भिन्न हैं, इससे सिद्ध होता है, कि समुद्र और तरगे अभिन्न नही हैं।

समुद्र और तरग के उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है, कि 'प्रमाण' और 'नय' का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? नय न तो प्रमाण है, और न अप्रमाण, अपितु प्रमाण का एक अश है, जसे कि तरग न समुद्र है, न असमुद्र है, अपितु समुद्र का एक अश है।—१

१—न समुद्राऽसमुद्रो वा समुद्राशो यथोच्यते।
नाऽप्रमाण प्रमाण वा, प्रमाणांशस्तथा नय ॥ ६ ॥
— नयोपदेश

प्रमाण

वस्तु तत्त्व का रूप समग्र
जिसमें होता है परिलक्षित।
वह प्रमाण है ज्ञान-सिन्धु सम,
दशा जग में सदा समर्चित॥

नय

वस्तु तत्त्व यदि एक अंश से,
होता चित्त में प्रतिभासित।
वह चिति-अंश नीति पथ नय है
जिन शासन में परम्परक्षित।

— उपाध्याय अमर मुनि

पर्याय-स्वरूप

•

वस्तु-मात्र में सतत यथाक्रम,
जो होता है परिवर्त्तन।
कहते हैं पर्याय उसी को,
वस्तु-तत्त्व मर्मज्ञ सुज्ञ जन ॥

— उपाध्याय, अमर मुनि

•

तद्भाव: परिणाम:

— तत्त्वार्थ, ५-४१

उसका होना, अर्थात्—स्वरूप में स्थित रहकर, उत्पन्न तथा नष्ट होना परिणाम है, अर्थात्—पर्याय है।

४

पर्याय-स्वरूप

प्रश्न—एक ही वस्तु अनन्त-धर्मात्मक कैसे हो सकती है ?

उत्तर—अनन्त-पर्यायों के समुदाय का नाम ही वस्तु है। पर्याय को धर्म भी कहते हैं। पर्याय दो प्रकार की होती हैं—एक सह-भावी और दूसरी क्रम-भावी।

रूप, रस आदि पर्याय सह-भावी कहलाती हैं, और नूतन पुरातन आदि पर्याय क्रम-भावी कहलाती हैं। सह-भावी पर्याय गुणों की होती हैं, तथा क्रम भावी पर्याय द्रव्य की होती हैं। अथवा—

पर्याय दो प्रकार की होती हैं—एक स्वभाव-पर्याय, और दूसरी विभाव पर्याय। अथवा—

समस्त पदार्थों की पर्याय दो प्रकार की होती हैं—पहली शब्द पर्याय, और दूसरी अर्थ-पर्याय।

शब्द-पर्याय अनन्त हैं, उनका अन्तर्भाव केवल श्रुत-ज्ञान मे ही हो सकता है—अन्य में नहीं।

अर्थ-पर्याय अनन्तानन्त हैं क्योंकि अर्थ-पर्याय का अन्तर्भाव पाँचो ही ज्ञान में हो जाता है। इस दृष्टि से शब्द पर्याय की अपेक्षा से अर्थ-पर्याय अनन्त-गुण अधिक हैं। शब्द पर्याय के आगे चलकर दो भेद हो जाते है, जैसे—कि स्व-पर्याय और पर पर्याय। शत क्रतु, इन्द्र, पाक-शासन, ये स्व-पर्याय है। सौधर्माधिपति, शचि-पति ये पर-पर्याय हैं। जल, वारि, तोय, पानीय—ये स्व-पर्याय हैं। स्वर्ण घट का पानी, घड़े का पानी, झज्झर का पानी-ये सब पर-पर्याय है। आगे चलकर फिर अतीत वर्तमान, और भविष्यत्, एक एक पर्याय के साथ लगाने से पुन एक एक के तीन भेद बन जाते हैं। इस प्रकार शब्द पर्याय भी उत्तरोत्तर अनन्त पर्याय बन जाती है।

अर्थ-पर्याय को भी उपर्युक्त शैली से समझ लेना। अत कहा जाता है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। किसी विवक्षित एक पर्याय का अनेक दृष्टि कोणो से जो देखा जाए और जाना जाए, उसे ही नय कहते है।

स्याद्वाद

आदीपमाव्योम सम-स्वभाव,
स्याद्वाद-मुद्रानतिभेदि वस्तु ।
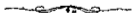
— आचार्य हेमचन्द्र

सर्वमस्ति स्वरूपेण,
पर रूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्व-सत्त्व स्यात्,
स्वरूपस्याप्यसम्भव. ॥

— प्रमाण-मीमांसा

"प्रत्येक वस्तु, स्वरूप से विद्यमान है, और पर-स्वरूप से अविद्यमान है। यदि वस्तु को पर स्वरूप से भी भावरूप स्वीकार किया जाए, तो एक वस्तु के सद्‌भाव में सम्पूर्ण वस्तुओं का सद्‌भाव माना जाना चाहिए, और यदि वस्तु को स्वरूप से भी अभाव रूप माना जाए, तो वस्तु को सर्वथा स्वभाव-रहित मानना चाहिए, जो कि वस्तु स्वरूप से सर्वथा विपरीत है।"

वाला स्याद्वाद ही है। परस्पर स्नेह एव सद्भाव मे रहने का सुन्दर पाठ मानव समाज को स्याद्वाद ने ही पढ़ाया है। अपनी विशिष्टता स्थापित करने के निमित्त स्याद्वाद किसी भी धर्म या सिद्धान्त का खण्डन नही करता, किन्तु अपने औचित्य के अनुरूप भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोण का समन्वय एव एकीकरण करता है।

अस्तु, स्याद्वाद क्या है? उसकी मौलिक परिभाषा क्या है? उसकी उपयोगिता जीवन-व्यापार के लिए किस रूप में है? इन सभी प्रश्नो पर हम यहाँ सक्षेप मे विचार करना होगा।

परिभाषा—

स्याद्वाद का अर्थ है, विभिन्न दृष्टि-कोणों का बिना किसी पक्ष-पात के तटस्थ बुद्धि से समन्वय करना। जो महत्व पूर्ण कार्य एक न्यायाधीश का होता है, ठीक वही कार्य विभिन्न विचारो के समन्वय के लिए स्याद्वाद का है। जिस प्रकार एक जज, वादी और प्रतिवादी दोनो पक्षो के बयान सुनकर, दोनो के बयानो की जाच-पडताल करके निष्पक्ष फैसला देता है, उसी प्रकार स्याद्वाद भी दो विभिन्न विचारो को सुनकर उनमे समन्वय कराता है। यह तो हुआ स्याद्वाद का मौलिक अर्थ। अब शाब्दिक अर्थ भी सुन लीजिए।

"स्याद्वाद' इसमे दो शब्दो का सयुक्तीकरण है—'स्यात्' और 'वाद'। 'स्यात्' का अर्थ है—अपेक्षा या दृष्टि-कोण, और 'वाद' का अर्थ है–सिद्धान्त या मन्तव्य। दोनों

सकते हैं, कि—"यह व्यक्ति पिता ही है।" ऐसा कहना और मानना भारी भूल है। अस्तु, यही एकान्त वाद है, जिससे संसार में कलह और वैमनस्य का प्रसार होता है। यदि हम 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करना सीख लें, तो कलह एवं वैमनस्य की आशंका ही न रहे। 'भी' का प्रयोग करते हुए हम कहेंगे कि—"यह 'पिता' भी है।" यही अपेक्षा-वाद है, इसी को हम अनेकान्त-वाद कहते हैं।

इस सम्बन्ध में अनेक स्याद्वाद-विद् विद्वानों का ऐसा कथन है, कि मानव-जीवन को सफल एवं शान्तिमय बनाने के लिए जीवन में स्याद्वाद का उपयोग करना आवश्यक तथा अनिवार्य है। क्योंकि कौटुम्बिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय अशान्ति का मूल कारण 'ही' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इस आग्रह और अपनपन के भाव को मन मस्तिष्क में स्थान न देना ही स्याद्वाद है। यदि मानव-समाज आज स्याद्वाद को व्यापक एवं उदार दृष्टि से विचार करना सीख जाए, तो निश्चय ही हम अपने जीवन को सरस, सुन्दर तथा उदात्त बना सकते हैं।

केवल विचारों की विशद व्याख्याओं और ग्रन्थों के अध्यायों में लिखे सिद्धान्तों के शाब्दिक उच्चार से संसार का या मानव-जीवन का कल्याण नहीं हो सकता। मान लीजिए—आपको भूख लगी, तो क्या भोजन का नाम लेने मात्र से क्षुधा शान्त हो जाएगी? नहीं, हम तदनुकूल भक्ष्य पदार्थ भी प्रयोग में लाने होंगे। सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्-दर्शन के होने पर भी मुक्ति नहीं हो सकती, जब तक कि हम

"जयति जैनी नीति' अर्थात्—'जिन-भगवान्' द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त नीति अर्थात्—स्याद्वाद-सिद्धान्त सदा जयवन्त हो।"

स्याद्वाद की दार्शनिक परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—

"प्रत्यक्षादिप्रमाणाविरुद्धानेकात्मक-वस्तु-प्रतिपादक श्रुत-स्कन्धात्मक स्याद्वाद"—१

उपयोगिता—

वस्तु के वास्तविक तथा व्यावहारिक स्वरूप को समझने के लिए स्याद्वाद का उपयोग परमावश्यक है। स्याद्वाद के बिना किसी भी वस्तु का वास्तविक निर्णय नहीं हो सकता। यदि हम किसी वस्तु के एक ही धर्म को पकड़ लें, और अन्य धर्मों की ओर ध्यान न दें, तो हम निश्चय ही लोक-व्यवहार में असफल रहेंगे।

मान लीजिए—हम अपने पिता को पिता कहते हैं, क्योंकि वह हमारा जनक है। इसमें हम कोई भूल नहीं करते। पर, क्या हमारा पिता सम्पूर्ण संसार का पिता हो सकता है? कहना होगा, नहीं। क्योंकि हमारा पिता तो हमारी अपनी अपेक्षा ही से पिता है, किसी दूसरे की अपेक्षा से नहीं। हमारी व्यक्तिगत अपेक्षा के अतिरिक्त किसी दूसरे की अपेक्षा से वह मामा भी है, किसी तीसरे की अपेक्षा से वह भाई तथा पुत्र भी हो सकता है। फिर हम यह कैसे कह

१—अष्ट-सहस्री।

सकते हैं, कि—"यह व्यक्ति पिता ही है।" ऐसा कहना और मानना भारी भूल है। अस्तु, यही एकान्त वाद है, जिससे संसार में कलह और वैमनस्य का प्रसार होता है। यदि हम 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करना सीख लें, तो कलह एवं वैमनस्य की सम्भावना ही न रहे। 'भी' का प्रयोग करते हुए हम कहेंगे कि—'यह पिता भी है।' यही अपेक्षा-वाद है, इसी को हम अनेकान्त-वाद कहते हैं।

इस सम्बन्ध में अनेक स्याद्वाद-विद् विद्वानों का ऐसा कथन है कि मानव-जीवन को सफल एवं शान्तिमय बनाने के लिए जीवन में स्याद्वाद का उपयोग करना आवश्यक तथा अनिवार्य है। क्योंकि कौटुम्बिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय अशान्ति का मूल कारण 'ही' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इस आग्रह या कदाग्रह के भाव को भी मस्तिष्क में स्थान न देना ही स्याद्वाद है। यदि मानव-समाज आज स्याद्वाद की व्यापक एवं उदार दृष्टि से विचार करना सीख जाए, तो निश्चय ही हम अपने जीवन को सुन्दर तथा उदात्त बना सकते हैं।

केवल विचारों की विशद व्याख्याओं और चर्चा के अखाड़ों में निरे सिद्धान्तों के शाब्दिक उच्चार से संसार का या मानव-जीवन का कल्याण नहीं हो सकता। मान लीजिए—आपको भूख लगी, तो क्या भोजन का नाम लेने मात्र से क्षुधा शान्त हो जाएगी? नहीं, हम तदनुकूल प्रयत्न को प्रयोग में लाते होंगे। सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्-दर्शन के होने पर भी मुक्ति नहीं हो सकती, जब तक कि हम

३

तथा कथित ज्ञान और दर्शन के अनुरूप आचरण नहीं करते।

रत्न-त्रयात्मक मुक्ति मार्ग का यही आशय है, कि यथार्थ विचारों का जीवन-व्यापार में व्यावहारिक रूप देकर उनका यथावसर यथोचित उपयोग किया जाए। इसी प्रकार यदि स्याद्वाद को क्रियात्मक रूप में अपना लें, तो पन्थ-वाद एवं सम्प्रदाय वाद जैसी संकीर्णताओं का नाम भी न रहे, और हम सब एक तन और एक मन होकर विश्व बन्धुत्व का सफल अभिनय कर सकते हैं।

सप्त-भङ्गी

एकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन,
विधि-प्रतिषेध कल्पना सप्त-भङ्गी ।

— सप्त-भङ्गी तरंगिणी

अवरोप्पर-सावेक्खं णय-विसयं अह पमाण-विसयं वा ।
तं सावेक्खं तत्तं णिरवेक्खं ताण विवरीयं ॥

— नय-चक्र

"वस्तु-गत धर्म भले ही नय-विषयक हो, भले ही प्रमाण-विषयक हो, परन्तु वे परस्पर सापेक्ष ही होते हैं। सापेक्षता तत्त्व है और निरपेक्षता अतत्त्व।"

: ६ :

सप्त-भङ्गी

जैन-दर्शन में जितना महत्त्व स्याद्वाद का माना गया है, और बौद्धिक विश्लेषण के द्वारा पदार्थों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जितना उपयोग स्याद्वाद का किया जाता है, उतना ही महत्त्व और उपयोग सप्त-भङ्गी का भी माना गया है। 'सप्त-भङ्गी' एक वह महान् सिद्धान्त है, जो वस्तु के धर्म पर अवलम्बित रहता है। सप्त-भङ्गी-वाद, नय-वाद और प्रमाण-वाद ये सब स्याद्वाद रूपी दुर्ग के संरक्षक हैं। स्याद्वाद रूपी दुर्ग पर अधिकार करने के लिए यह अनिवार्यतः आवश्यक है, कि अधिकार की कामना करने वाला सर्व प्रथम इन तीन प्रवेश द्वारों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर ले।

अस्तु, किसी प्रश्न के उत्तर में या तो हम 'हाँ' बोलते हैं, या 'नहीं'। इसी 'हाँ' और 'नहीं' के औचित्य को लेकर सप्त-भङ्गी वाद की रचना हुई है। सप्त-भङ्गी का सामान्य अर्थ है—वचन के सात प्रकारों का एक समुदाय। किसी भी

पदार्थ के लिए अपेक्षा के महत्व को ध्यान में रखते हुए सात प्रकार से वचनों का प्रयोग किया जा सकता है। वे सात वचन इस प्रकार है —

१—है,
२—नहीं,
३—है और नहीं,
४—कहा नहीं जा सकता,
५—है, परन्तु कहा नहीं जा सकता,
६—नहीं है, परन्तु कहा नहीं जा सकता,
७—है, और नहीं, किन्तु कहा नहीं जा सकता।

शास्त्रीय एवं दार्शनिक परिभाषा—

"प्रश्नवशादेकत्र वस्तुनि अविरोधेन विधि-प्रतिषेधकल्पना सप्त-भङ्गी।"

अर्थात्—प्रश्न के अनुसार एक ही वस्तु में विरोध रहित विधि और प्रतिषेध की कल्पना को सप्त-भङ्गी कहते हैं। किसी भी पदार्थ एवं वस्तु के विषय में सात प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं। इसीलिए सप्त भङ्गी कही गई है। सात प्रकार के प्रश्नों का कारण है—सात प्रकार की जिज्ञासा और सात प्रकार की जिज्ञासा का कारण है—सात प्रकार के संशय, तथा सात प्रकार के संशयों का कारण है—उसके विषय रूप वस्तु के धर्मों का सात प्रकार से होना।

अस्तु, इस परिभाषा या लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्त-भङ्गी के सात 'भङ्ग' केवल शाब्दिक कल्पना ही

नही है, अपितु वस्तु क धर्म-विशेप पर आश्रित हैं। इसलिए सप्त भङ्गी का अध्ययन, मनन और चिन्तन करते समय इस बात का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है, कि उसके प्रत्येक भङ्ग का स्वरूप वस्तु क धम के साथ सम्बद्ध हो। यदि किसी भी पदाथ का कोई भी धम दिखलाया जाना आवश्यक हो, ता उस इस प्रकार दिखलाना चाहिए, जिससे कि उन धर्मों का स्थान उस वस्तु म से विलुप्त न हो जाए।

मान लीजिए आप घट मे नित्यत्व का स्वरूप दिखलाना चाहते है, तो आपको घट क नित्यत्व का बोध करवाने के लिए ऐसा उपयुक्त शब्द प्रयोग करना होगा, जो घट म रहने वाल नित्यत्व धम का बोध ता कराए, किन्तु अन्य अनित्यत्व आदि धर्मों का विरोध न करे। यह काय सप्त-भङ्गी के द्वारा ही हा सकता है।

यथा—स्याद् नित्य एव घट' अथवा 'स्याद् अनित्य एव घट अर्थात्—घट 'नित्य' भी है और अनित्य' भी। द्रव्य दृष्टि से नित्य है, और पर्याय-दृष्टि से 'अनित्य'।

अस्तु, अब इसी उदाहरणीभूत घट पर सप्त भङ्गी की वचन प्रयोग शैली इस प्रकार हागी।

१—स्याद नित्य एव घट,

२—स्याद् अनित्य एव घट,

३—स्याद् नित्यानित्य एव घट,

४—स्याद् अवक्तव्य एव घट,

५—स्याद् नित्य अवक्तव्य एव घट,

६—स्याद् अनित्य अवक्तव्य एव घट,

७—स्याद् नित्य अनित्य अवक्तव्य एव घट,

किसी भी पदार्थ के विषय में उपर्युक्त सात प्रकार से ही प्रश्न हो सकते हैं, अतः आठवाँ, नवाँ या दसवाँ भंग नहीं बन सकता। इसीलिए 'सप्त-भंगी' में सप्त-पद बिल्कुल सार्थक एवं अवधारणात्मक है। अर्थात्—सात ही भंग हैं, कम या अधिक नहीं। उक्त सात वचन प्रयोगों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१—घट द्रव्य अपेक्षा से नित्य है।

२—घट पर्याय अपेक्षा से अनित्य है।

३—घट क्रम विवक्षा से नित्य भी है और अनित्य भी।

४—घट अवक्तव्य है, अर्थात् युगपद्-विवक्षा से अवक्तव्य भी है। उपर्युक्त चार वचन प्रयोगों पर से पिछले तीन वचन और बनाये जाते हैं।

५—द्रव्य अपेक्षा से घट 'नित्य' होने के साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है।

६—पर्याय अपेक्षा से घट 'अनित्य' होने के साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है।

७—द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से घट क्रमशः 'नित्य' और 'अनित्य' होने के साथ साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है। पिछले तीन वचन-प्रयोग, अवक्तव्य रूप चतुर्थ भंग के साथ पहला, दूसरा और तीसरा मिलाने से बनते हैं। अतः वास्तव में मुख्य-रूप से तीन या चार ही भंग हैं।

वस्तुत शब्द की प्रवृत्ति प्रवक्ता के भावो पर आधारित होती है। अर्थात्— प्रत्येक वस्तु म अनेक (अनन्त) धम होते हैं, विभिन्न प्रवक्ता अपने अपने दृष्टिकोण से उनका उल्लेख करते हैं।

मान लीजिए, दो मनुष्य हैं। दोना बाजार म कुछ सौदा खरीदन गए हैं। किसी दुकान पर दोनो पहुँचे और उन्होने अनेक वस्तुएँ देखी। अपनी पसन्द के अनुसार एक किसी वस्तु को अच्छी बतला रहा है, और दूसरा उसी को बुरी बतला रहा है। दोनो मे विवाद खडा हो जाता है। इधर से कोई तटस्थ पथिक भी चला जा रहा है। उसने दोना को झगडते देखा, और पूछा— क्या भाई, तुम परस्पर क्या झगड रहे हो ?' दोनो अपनी अपनी बात कह देते हैं। समझदार पथिक दोना की बात सुनकर उनको समझाता है कि देखो—विवादास्पद वस्तु अच्छी भी है और बुरी भी। जो वस्तु तुम्हारी दृष्टि म अच्छी है, वह इनकी दृष्टि म बुरी हो सकती है और इनकी दृष्टि म जो बुरी है, वह तुम्हारी दृष्टि म अच्छी हो सकती है। यह तो अपनी-अपनी दृष्टि है। अपना अपना विचार है। इसमे लडने और झगडने जसी तो कोई चीज नही है।

देखिए, तीना व्यक्ति अपनी-अपनी विचार दृष्टि के अनुसार तीन तरह का वचन प्रयोग करते हैं। पहला विधि-सम्बन्धी, दूसरा निषेध-सम्बन्धी, और तीसरा उभयात्मक, अर्थात्—विधि और निषेध दोनो से सम्बन्धित। अस्तु, जब हम किसी वस्तु को अच्छी कहते हैं, तो इसका यही तात्पर्य

है कि वह वस्तु हमारी दृष्टि में सुन्दर है, किन्तु दूसरे की दृष्टि में वह बुरी या असुन्दर भी हो सकती है।

सप्त भंगी के विषय में एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है और वह है—भंगों के क्रम में मत भेद का उत्पन्न होना। कुछ ग्रंथकार 'अवक्तव्य' को तीसरा, और 'नित्यानित्य' को चतुर्थ भंग के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु अन्य आचार्य नित्यानित्य' को तीसरे और 'अवक्तव्य' को चतुर्थ भंग के रूप में स्वीकार करते हैं। इस क्रम-भेद में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के आचार्य सम्मिलित हैं। यद्यपि दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने इस प्रकार अपने-अपने ग्रंथों में भिन्न भिन्न विकल्प क्रम को स्थान दिया है, परन्तु इस क्रम-भेद में वस्तु-स्थिति में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं दिखलाई देता।

सप्त भंगी का सिद्धान्त बहुत श्रेष्ठ है, और पारस्परिक कलह को दूर करने वाला समस्त वस्तु-स्वरूप का परिचायक शास्त्र-प्रयोग है। यदि इस सिद्धान्त को हम अपने दैनिक व्यवहार में अपना लें, तो निश्चय ही हमारी साम्प्रदायिक मोह-ममता दूर हो सकती है। जिस भांति जैनों ने अहिंसा को सक्रिय रूप दे दिया है, उसी भांति यदि हम 'स्याद्वाद' और 'सप्त-भंगी' को भी अपने जीवन-व्यवहार में सक्रिय रूप दे दें, तो हमारा समाज सुसंगठित एवं सुदृढ़ हो सकता है। हम एक न हो सकेंगे, ऐसी कोई असम्भव बात नहीं है। हाँ, एकता के लिए अपनी अपनी तथ्य-हीन मान्यताओं और निराधार धारणाओं का परित्याग अवश्य ही करना होगा।

-ग्रस्तु, यदि हम जीवन के ग्रभीप्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिए, ममाज के कल्याण के लिए, तथा राष्ट्र के उत्थान के लिए जीवित रहना है, ग्रौर माथ ही यदि हम ससार म ग्रपने धम-सिद्धान्तो का प्रचार एव प्रसार भी करना चाहते है, तो हम विभिन्न सम्प्रदायो की सकीर्ण मान्यताग्रो तथा रूढ परम्पराग्रो के एकान्त मूलक गति-रोधक प्रतिबधो को तोडने के लिए नैतिक साहस का सहारा लेना होगा।

नैतिक साहस की उपलब्धि के सम्बन्ध म यह स्पष्टीकरण विषय सगत ही होगा कि नैतिक साहस कोई बाह्य एव कृत्रिम उपाय नही, ग्रपितु सत्य के प्रति मन, वचन ग्रौर कर्म की सत्य निष्ठ एकरूपता है। ग्रौर, यह ग्रद्भुत एकरूपता तभी सम्भव है, जब मानव का मन ग्रौर मस्तिष्क समस्त सकीर्णताग्रो से मुक्त रह कर विशालता ग्रौर व्यापकता का ग्रगीकार कर ले।

ग्रतएव जब हमारा मन ग्रौर मस्तिष्क ग्रपेक्षित विशालता ग्रौर व्यापकता के द्वारा नैतिक साहस को प्राप्त कर लेगा, तब हमारे ग्रन्दर सहिष्णुता नामक ग्रलौकिक सुगन्ध का ग्रबाध सचार होगा, जिससे सकीर्णता की दुर्गन्ध दूर होगी, ग्रौर ग्रपने तथा पराये सत्य के पूर्ण-रूप के प्रति शाश्वत स्नेह का उदय होगा।

साराश म यह कथन पर्याप्त होगा कि मानव-जीवन मे 'स्व-सत्यनिष्ठा' की भाँति 'पर-सत्यनिष्ठा' हो जाने पर ही—

'पर-मत' अथवा 'पर धर्म' सम्बन्धी सहिष्णुता की उपलब्धि सम्भव है, और इस सम्भावना को साकार रूप मे प्रदर्शित करने के लिए अनेकान्त-वाद और सप्त-भगी-वाद को जीवन मे उतारना होगा।

सप्त-भगी पर दृष्टान्त

एक थोक माल का खरीदार गाडी से उतर कर, शहर की ओर जाते हुए मार्ग मे स्थित किसी परिचित सेठ से पूछता है कि क्या आपकी दुकान पर थोक माल है ?

१ स्यादस्ति एव—कथचित् है, सेठ ने जवाब दिया।

फिर खरीदार पूछता है—क्या आपके पास विदेशी माल भी है ?

२ स्यात् नास्ति एव— कथचित् नही है, सेठ ने उत्तर दिया।

फिर खरीदार पूछता है—क्या स्व देशी माल सब प्रकार का उपस्थित है ?

३ स्यादस्ति नास्ति एव—कथचित् है भी, और नही भी। सेठ ने उत्तर दिया।

फिर खरीदार पूछता है कि—किस-किस कम्पनी का माल आप के पास उपस्थित है, सक्षेप से मुझे एक ही वाक्य मे उत्तर दे ?

४ स्यादवक्तव्यमेव—कथचित् अवक्तव्य है, इस प्रकार सेठ ने सक्षेप मे ही उत्तर दिया।

फिर खरीदार पूछता है—क्या अमुक कम्पनी का माल है ? यदि है, तो कौन-कौनसा माल है ? एक ही भंग में उत्तर दें।

५ स्यादस्ति स्यादवक्तव्यमेव— कथंचित् है, और कथंचित्, अवक्तव्य है अर्थात् माल तो है, परन्तु कौन-कौन सा है, यह कहा नहीं जा सकता, सेठ ने उत्तर दिया।

फिर खरीदार पूछता है कि—क्या आपके यहाँ अमुक कम्पनी का माल है ? यदि नहीं है, तो कृपया यह भी बताएँ कि किस-किस कम्पनी का माल नहीं है ? एक ही वाक्य में उत्तर दें।

६ स्यात्नास्ति स्यादवक्तव्यमेव—कथंचित् नहीं है, कथंचित् अवक्तव्य है अर्थात् जिस कम्पनी का नाम आप ले रहे हैं उसका माल मेरे पास थोक नहीं है। किस-किस कम्पनी का माल मेरे पास नहीं है, यह कहा नहीं जा सकता। सेठ ने उत्तर दिया।

फिर वही आगन्तुक व्यापारी पूछता है कि क्या अमुक कम्पनी का बना हुआ माल सब प्रकार का है या नहीं ? यदि है, तो कौन कौनसा माल है ? यदि नहीं है, तो कौन सा माल नहीं है ? इसका उत्तर एक ही वाक्य में दें।

७ स्यादस्ति नास्ति स्यादवक्तव्यमेव—कथंचित् है, और नहीं भी, कथंचित् अवक्तव्य भी है, अर्थात्—उस कम्पनी का माल बहुत कुछ उपस्थित है, बहुत कुछ बिक चुका, थोक रूप में नहीं है। उस कम्पनी का माल अब कौन सा है, और कौन सा नहीं—यह कुछ कहा नहीं जा सकता। अतः यदि एक ही वाक्य में उत्तर देना हो, तो पूर्वोक्त सातवें भंग में ही दिया जा सकता है।

सम्यग् दर्शन पर सप्त-भंगी

१—स्यादस्तिएव क्षायिकसम्यग्दर्शनम्—यह भंग चतुर्थ गुण स्थान से लेकर षष्ठ गुण स्थान तक तथा ग्यारह से बारह गुण स्थानों में पाया जाता है।

२—स्यान्नास्तिएव क्षायिकसम्यग्दर्शनम्—यह भंग पहले से तीसरे तक और ग्यारहवां, इन चार गुण-स्थानों में पाया जाता है।

३—स्यादस्तिनास्तिएव क्षायिक सम्यग्दर्शनम्—यह भंग सातवें से दसवें गुण स्थान तक तथा बारहवें और चौदहवें इन छह गुण-स्थानों में पाया जाता है।

४—स्यादवक्तव्यमेव क्षायिकसम्यग्दर्शनम्—पूर्वोक्त तीसरे भंग में जो गुण स्थानों का उल्लेख किया है, उनमें से वर्त्तमान काल में किस किस स्थान में सम्यग्दर्शन का सद्भाव, और किस किस में असद्भाव है, यह कहना एक समय में अशक्य है।

५—स्यादस्ति स्यादवक्तव्यमेव क्षायिकसम्यग्-दर्शनम्—यह भंग प्रथम और चतुर्थ भंग का सम्मिश्रण है।

६—स्यान्नास्ति स्यादवक्तव्यमेव क्षायिक सम्यग्दर्शनम्—यह भंग दूसरे और चतुर्थ भंग का सम्मिश्रण है।

७—स्यादस्तिनास्ति स्यादवक्तव्यमेव क्षायिक सम्यग्-दर्शनम्—तीसरे और चतुर्थ भंग का सम्मिश्रण है।

नैगम-नय

देश समग्र ग्राही नैगम

— तत्त्वार्थ भाष्य, १—३५

नैगमो मन्यते वस्तु, तदेतदुभयात्मकम् ।
निर्विशेष न सामान्य, विशेषोऽपि न तद् विना ॥

— नय-कर्णिका

"नैगम नय वस्तु को उभयात्मक, अर्थात् सामान्य-विशेष रूप मानता है। क्योंकि विशेष के बिना सामान्य और सामान्य के बिना विशेष, किसी भी तरह घटित नहीं हो सकते।"

७ •

नैगम-नय

अध्यापक ने अपना नय विषयक वक्तव्य संक्षेप में ही समाप्त करके मात्र छात्रों को नैगम नय का अर्थ, और उसका संक्षिप्त विवेचन करने की आज्ञा प्रदान की। तदनन्तर छात्रों ने नैगम नय का अर्थ करते हुए अपने अपने विचार प्रगट किए—

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा— "अनेक प्रकार के सामान्य एवं विशेष-ग्राहक ज्ञान के द्वारा जिस वस्तु-तत्त्व का निश्चय किया जाय, उसे 'नैगम-नय' कहते हैं।"—१

वैशेषिक दर्शन के अनुसार यदि सामान्य और विशेष का स्वरूप माना जाए, तो 'अविशुद्ध' नैगम नय के अन्तर्भूत हो सकता है, क्योंकि वैशेषिक दर्शनकार ने सामान्य

१—णेगेहिं माणेहिं मिणइत्ति णेगमस्स य निरुत्ती।

— अनुयोगद्वार सूत्र टीका

और विशेष को भिन्न-भिन्न पदार्थ माना है, और तदनुसार उनके लक्षण भी भिन्न ही प्रतिपादित किए हैं।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"लोकार्थ निबोध को निगम कहते हैं, उसमें जो कुशल हो उसे नैगम कहते हैं।"—१

'लोक' का आशय लौकिक से है। अर्थ का तात्पर्य है—जीवादि तत्त्व, अर्थात्—लौकिक दर्शनकारों ने जीवादि तत्त्व पर अपनी अपनी मान्यतानुसार जो विचार धाराएँ व्यक्त की हैं, उसे निगम कहते हैं, उसी को सुव्यवस्थित तथा विशिष्ट रूपेण बोध कराने वाले ज्ञान को 'नैगम नय' कहते हैं।

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—"जिसके द्वारा गमन किया जाए, उसे 'गम' कहते हैं। जिसके अनेक मार्ग हों, उसे 'नैक गम' कहते हैं। निरुक्त विधि में 'नैक' शब्द का ककार लुप्त हो जाने पर 'नैगम' शब्द बनता है।—२

१—'लोगत्थ निबोहा वा निगमा, तेसु कुसलोऽभवोऽयम्।'

— नय प्रदीप

२—"जे नेगगमो, अणेग पहो, णेगमो, तेण गम्यतेऽनेनेति' गम = पन्था, न एक गमा पन्थानो यस्यासौ नैकगम। निरुक्त विधिना ककार-लोपात नैगम इति।'

— विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति

हत्थे की लकड़ी के जंगल में वहाँ जाते हुए, यदि किसी से कोई पूछे कि आप कहाँ जा रहे हैं? तब वह जवाब में कहता है कि मैं कुल्हाड़ा लेने जा रहा हूँ। वास्तव में तो वह कुल्हाड़ी के लिए हत्थे की लकड़ी लेने ही जा रहा है, तब भी वह ऊपर जैसा ही जवाब देता है, और पूछने वाला भी तत्काल उसके तात्पर्य को समझ लेता है। यह एक तरह की लोक-रूढ़ि है।

चतुर्थ छात्र

चौथे छात्र ने कहा—"नैक गच्छतीति निगम, निगमो विकल्पस्तत्र भवो नैगम,"—लोक रूढ़ि के अनुसार जिसके अनेकों ही मार्ग हों, उसे नैगम कहते हैं। मुख्यतया नैगम नय के तीन भेद हैं—१

(१) महासामान्य,
(२) सामान्य,
(३) विशेष।

परसत्ता को महासामान्य कहते हैं। अपर-सत्ता को सामान्य कहते हैं। और जो नित्य द्रव्यों में रहने वाले हैं तथा व्यावर्तक हैं, वे विशेष कहलाते हैं। दूसरी शैली से भी इसके तीन भेद बनते हैं, जैसे—(क) अविशुद्ध नैगम (ख) विशुद्धाविशुद्ध नैगम और (ग) विशुद्ध नैगम।

१—नैक गच्छतीति निगम । निगमो विकल्पस्तत्र भवो नैगम।"
—अनुयोगद्वार सूत्र टीका

उपरोक्त तीनों भेदों को स्पष्टतया समझने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है। जैसे—

कोई व्यक्ति चादर बनाने के लिए बाजार से रूई खरीद रहा है। वहीं पर किसी आगन्तुक ने पूछा, क्या ले रहा है? उसने उत्तर दिया चादर ले रहा हूँ। वही आगन्तुक व्यक्ति उस रूई को पीज भी रहा है। अतः उससे पूछा गया–क्या बना रहा है? वह उत्तर देता है, मैं चादर बना रहा हूँ। वही व्यक्ति तकली या चर्खे से सूत कात रहा है, किसी ने पूछा—क्या बना रहे हो? उसने उत्तर दिया—मैं चादर बना रहा हूँ। खड्डी में ताना तानते हुए से पूछा, कि क्या बना रहा है? उत्तर दिया, मैं चादर बना रहा हूँ। अर्थात् चादर बनाने के दृढ संकल्प से लेकर रूई खरीदने तक 'अविशुद्ध नैगम' कहलाता है, और सूत कातना आदि क्रिया विशुद्धाविशुद्ध नैगम कहलाता है, ताना तानते हुए उसने जो उत्तर दिया, वह विशुद्धनैगम' है।

पंचम छात्र

पाँचवें छात्र ने कहा— 'जब अतीत काल में वर्त्तमान का आरोप किया जाए, तब उसे भूत-नैगम कहते हैं। जैसे आज दीपावली को श्रीवर्द्धमान स्वामी का निर्वाण हुआ। आज अमुक तीर्थङ्कर को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ।"

"जब भावि-काल में भूत काल की तरह कथन किया जाता है, तब उसे भावि नैगम कहते हैं। जैसे कि भव-सिद्धिक जीव सिद्ध ही है, क्योंकि भगवती सूत्र के अट्ठारहवें

शतक म भगवान् महावीर स्वामी प्रतिपादन करते है, कि—भव सिद्धिक जीव एक या अनेक चरम हैं। अत जो चरम हैं, वे अर्हन् ही हैं, और जो अर्हन् है वे सिद्ध ही है। अत सिद्धत्व परिणाम अचरम है। जब कारण को कार्य रूप मे परिणत करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है, तब कार्य पूरा होने म भले ही विलम्ब हो, परन्तु वह कार्य पूर्ण ही कहा जाता है। इस प्रकार के नय को "वर्तमान-नैगम नय" कहते हैं।

उदाहरण के लिए भृगु पुरोहित और उसके दोनो पुत्रो का संवाद ले लीजिए—

पुरोहित के दोनो पुत्रो ने दीक्षा का दृढ सकल्प तो कर लिया, परन्तु अभी तक दीक्षा ग्रहण नही की थी। फिर भी पुरोहित ने उन्हे मुनि कहा है।—१

इसी प्रकार दीक्षा लेने म पहले ही नमिराज को राजर्षि कहा है। ये उदाहरण 'वर्तमान नगम नय' के हैं।

षष्ठ छात्र

छठे छात्र ने कहा—जो विचार लौकिक रूढि अथवा लौकिक सस्कार के अनुसरण करने से पैदा होता है, उसे

१—अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं,
तवस्स वाघायकर वयासी।
इम वय वेयविओ वयन्ति,
जहा न होइ असुयाण लोगो॥

— उत्तराध्ययन, १४—८

नैगम रहते हैं, अर्थात्—नाना रूढ़ियों से पड़े हुए संस्कारों के कारण जो विचार उत्पन्न होते हैं, वे सभी नैगमनय के अन्तर्गत हो जाते हैं। देश, काल एवं लोक स्वभाव सम्बन्धी भेदों की विविधता के कारण लोक रूढ़ियाँ तथा तज्जन्य संस्कार भी अनेक तरह के होते हैं। उनके उदाहरण विविध प्रकार के मिलते हैं।

सप्तम छात्र

मानव छात्र ने कहा—जो नय एक गम, अर्थात्—एक विकल्प-रूप ही नहीं हो, किन्तु जो अनेक विकल्पों द्वारा अनेक मान, अनुमान और प्रमाण द्वारा वस्तु-स्वरूप को समझता हो, पदार्थों को सामान्य, विशेष तथा उभयात्मक मानता हो, तीनों काल की बात को स्वीकार करता हो, किसी वस्तु में अंश मात्र गुण होने पर भी उसे पूर्ण वस्तु मानता हो, चारों निक्षेपों को अङ्गीकार करता हो, वह ज्ञान नैगम-नय कहलाता है। अथवा—

किसी वस्तु में किसी एक पर्याय के होने की योग्यता मात्र देखकर वर्तमान में उस पर्याय के अभाव में भी उस वस्तु को उस पर्याय-युक्त कहना, उसे नैगम नय कहते हैं।

जैसे वर्तमान में श्रेणिक की आत्मा को नारकीय होते हुए भी तीर्थङ्कर कहना, क्योंकि यह नय, द्रव्य-तीर्थङ्कर को भी तीर्थङ्कर मानता है। द्रव्य-साधु को भी साधु मानता है।

इसके पश्चात् अध्यापक नय और नैगम का अर्थ बतलाते हुए इस प्रकार कहने लगा—

अध्यापक

किसी भी विषय का सापेक्ष निरूपण करने वाला विचार 'नय' है—नयों का निरूपण, अर्थात्—विचारों का वर्गीकरण। जैसे सूत्रकार शिष्य की सुगमता के लिए किसी महान् शास्त्र के रचना काल में अपने अभीष्ट विचारों को पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध, अथवा प्रथम श्रुतस्कन्ध एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध इस प्रकार दो विभागों में विभक्त कर देते हैं। आगे चलकर प्रत्येक श्रुतस्कन्ध में भिन्न-भिन्न विषय पर अध्ययन। प्रत्येक अध्ययन में भिन्न-भिन्न प्रकरण और प्रत्येक प्रकरण में एक ही विषय को स्पष्ट करने वाले भिन्न-भिन्न विचार। इसी प्रकार नय शास्त्र में 'नय-वाद' का निरूपण है अर्थात्—"विचारों की मीमांसा" ही 'नय वाद' है।

इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि—जो विचार परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं, परन्तु वास्तव में जिनका विरोध नहीं है, उन विचारों के अविरोध के बीज की गवेषणा करना, अर्थात्—परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले विचारों के वास्तविक अविरोध के बीज की गवेषणा करके उन विचारों का समन्वय करने वाला शास्त्र 'नय-वाद' कहलाता है। सात नयों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है—(क) द्रव्यार्थिक, और (ख) पर्यायार्थिक। वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाला नय 'द्रव्यार्थिक' कहा जाता है, और विशेष धर्म को ग्रहण करने वाला नय 'पर्यायार्थिक' कहा जाता है।

कभी सामान्य और विशेष दृष्टियाँ भी एक सी नही होती, उनमे भी अन्तर रहता है। इसी को बतलाने के लिए इन दो विचार दृष्टियो के पुन अनेक भाग किये गए है। जैसे कि द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—"नैगम, सग्रह, व्यवहार और पर्यायार्थिक नय के चार भेद है—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत। अब 'द्रव्यार्थिक' और 'पर्यायार्थिक' का स्वरूप उदाहरण के द्वारा समझिए।

पहला उदाहरण—

जैसे किसी मनुष्य ने गाढ-तिमिर मे स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा हस्त-गत वस्तु को जाना कि यह पुस्तक है। फिर उसका आकार प्रकार और वजन भी जाना। फिर दूरवर्ती बिजली के प्रकाश से टाईटल की खूबसूरती और कागज का रग, उसकी चमक, स्निग्धता तथा रूक्षता और मोटाई को भी जाना। 'द्रव्यार्थिक नय' का यह सक्षिप्त परिचय है।

अनन्तर उसकी भाषा भी जानी जा सकती है। रचयिता कौन है? भाषा शैली कैसी है? विषय क्या है? छपाई कैसी है? मूल्य क्या है? कहाँ से मिलती है? इसके अभी तक कितने सस्करण निकल चुके हैं? कौन से सन् मे छपी है? किस प्रेस मे छपी है? भूमिका किस की लिखी हुई है? पृष्ठ सख्या और ग्रन्थाग्र कितना है? आदि अनेक प्रश्न हल किए जा सकते है, इसी को 'पर्यायार्थिक नय' कहते है।

दूसरा उदाहरण—

जैसे अबोध बालक किसी विशिष्ट चित्रगत सौन्दर्य को

या उमके ग्राकाग प्रकार को महासामान्य रूप म ही जानता ग्रोर देखता है। आठ वष का बालक कुछ विशेष रूप से जानता है, ग्रोर दखता है। चित्र कला से ग्रनभिन सालह वप का बालक भी हो, तब भी वह जो कुछ जानता ग्रोर दखता है, पहले की ग्रपक्षा से तो वह विशेष ही जानता है, किन्तु है यह भी सामान्य की कोटि म ही। यहाँ तक 'द्रव्यार्थिक नय' का सम्बन्ध है।

विशिष्ट चित्रकार उसी चित्र का विशेष रूप से जानता है यही 'पर्यायार्थिक नय' है। जैस विशेष दृष्टि वाला मनुष्य ग्रनघड सुवर्ण मे भी भूषण ग्रादि ग्रनन्त पर्यायो की कल्पना कर सकता है, ग्रोर कल्पित का भी जान सकता है, इसी प्रकार उन ग्रनन्त पर्यायो म स किसी भी एक म, सामान्य दृष्टि द्वारा वही मनुष्य स्वर्णत्व को भी जान सकता है। द्रव्य दृष्टि म विशेष-पर्याय, ग्रोर पर्याय दृष्टि म द्रव्य-सामान्य ग्राता ही नही, ऐसी बात नही है। यह दृष्टि विभाग तो केवल गौण ग्रोर प्रधान भाव की ग्रपेक्षा स ही समझना चाहिए।

नगम-नय का ग्राधार —लोक-रूढि है, जो ग्रारोप पर ग्राश्रित है। ग्रोर ग्रारोप होता है—सामान्य-तत्वाश्रयी। ऐसा होने से 'नैगम नय' सामान्य-ग्राही होता है।

नगम नय का विषय सबसे ग्रधिक विशाल है, क्योकि वह सामान्य ग्रोर विशेष दोनो का ही लोक रूढि के ग्रनुसार कभी तो गौण रूप से ग्रोर कभी मुख्य रूप से ग्रवलबन करता है।

जसे—गुण ग्रोर गुणी, ग्रवयव ग्रोर ग्रवयवो, जाति ग्रोर

जातिमान् क्रिया और कारक आदि उपक्रमों में भेद और अभेद की विवक्षा करना ही नैगम-नय है।

गुण और गुणी कभी भिन्न है और कभी अभिन्न। जिस समय कर्त्ता की विवक्षा भेद की ओर होती है, उस समय अभेद गौण हो जाता है, और जिस समय अभेद की विवक्षा की जाती है, उस समय भेद की गौणता स्पष्ट हो जाती है। सारांश में यह कथन पर्याप्त है कि भेद और अभेद को—गौण और प्रधान दोनों भाव से ग्रहण करना ही 'नैगम-नय' का विषय है।

यदि एकान्त भेद को ही ग्रहण करे और अभेद की बिल्कुल नास्ति ही कर दे या अभेद को ही मान्यता की कोटि में रखे, और भेद की पूर्णतया उपेक्षा करे, तो इसी का नाम 'नैगमाभास' है।

वस्तुतः नैगमाभास नय नहीं, बल्कि दुर्नय, अर्थात्—मिथ्यात्व-पोषक है, अतः यह सिद्धान्त की कोटि में नहीं आ सकता। जैसे कि न्याय तथा वैशेषिक दर्शनकारों ने सामान्य तथा विशेष ये दोनों परस्पर पदार्थों को अत्यन्त भिन्न माना है, द्रव्य, गुण और कर्म से भी उक्त दोनों पदार्थों को अत्यन्त भिन्न माना है। यही 'दुर्नय' है।

सग्रह-नय

सामान्य मात्र-ग्राही परामर्श. सग्रह.

— प्रमाण-नय तत्त्वालोक, ७—१३

अवरे परम-विरोहे, सव्व अत्थित्ति सुद्ध-संगहणो।
होइ तमेव असुद्धो इग-जाइ-विसेस गहणेण ॥

— लघु नय चक्र

"विभिन्न वस्तुओं में तद्गत विशेष गुण-धर्मों के कारण अत्यन्त विरोध होने पर भी वस्तु-गत 'सामान्य सत्ता' के कारण सभी को अस्ति रूप से ग्रहण करने वाला विचार 'शुद्ध संग्रह नय' है। और उन वस्तुओं में अवान्तर समानताओं के आधार पर एक अलग जाति विशेष को ग्रहण करने वाला विचार 'अशुद्ध संग्रह-नय' है।"

• ८ •

संग्रह-नय

नैगम-नय के पश्चात् अध्यापक ने छात्रों से संग्रह नय की व्युत्पत्ति, उसका स्वरूप तथा उसका विषय क्या है ? यह प्रश्न पूछा जिसका उत्तर सातों छात्रों ने इस प्रकार दिया।

प्रथम छात्र

पहला छात्र बोला— "अर्थानां सर्वैकदेश संग्रहणं संग्रहः"—[1] पदार्थों के सामान्य और विशेष दोनों धर्मों को संगृहीत करके एक सामान्य का स्वीकार करना ही 'संग्रह नय' की उपयोगिता है। इस नय की दृष्टि में सभी पदार्थ परस्पर अभिन्न हैं क्योंकि सामान्य धर्म सभी में विद्यमान हैं। सामान्य का विषय आकाश की तरह सर्व-व्यापी है।

द्वितीय छात्र

दूसरा छात्र बोला—"सामान्य रूपतया सर्व संगृह्णातीति

1—तत्त्वार्थ भाष्य,—१—३५।

संग्रह' अर्थात्—जो दृष्टि या अनुगत ज्ञान सामान्य रूप से समस्त द्रव्यों का संग्रह करता है वह 'संग्रह-नय' है। इसका विषय नैगम से कुछ संकुचित है, क्योंकि नैगम नय का विषय सामान्य और विशेष दोनों ही है। किन्तु संग्रह का विषय केवल सामान्य ही है।

तृतीय छात्र

तीसरा छात्र बोला—"सर्वेऽपि भेदाः सामान्य रूपतया संगृह्यन्तेऽनेनेति संग्रहः" अर्थात्—जिस ज्ञान के द्वारा सभी भेद तथा उपभेदों का संग्रह किया जाए, वह 'संग्रह-नय' कहलाता है। अर्थात्—जो विचार भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं तथा अनेक व्यक्तियों को किसी भी सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप में संगृहीत कर लेता है, वह 'संग्रह-नय' है।

चतुर्थ छात्र

चौथा छात्र बोला—'सामान्य मात्र ग्राही परमार्थः संग्रहः', अर्थात्—सामान्य मात्रग्राही जो ज्ञान है, वह 'संग्रह-नय' है। इस वाक्य में 'मात्रपद' दिया है, जिसका अर्थ होता है—"मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे च"—मात्रपद सम्पूर्ण और निश्चय का द्योतक है। 'संग्रह-नय' का विषय निश्चितरूपेण सामान्य ही है, अर्थात्—जहाँ-जहाँ सामान्य है, वहाँ-वहाँ संग्रह नय का विषय है।

पंचम छात्र

पाँचवाँ छात्र बोला—"सामान्यमशेष-विशेष-रहितम्"—

है। जैसे कि द्रव्यत्व, अस्तित्व, प्रमेयत्व आदि धर्म, सभी द्रव्यों मे समान रूप से विद्यमान है।—१

पिण्डित, अवान्तर, सामान्य, अपर संग्रह, आदि ये सब विशेष संग्रह के नामान्तर है। जैसे कि जीवत्व, पुद्गलत्व आदि धर्म सब स्व-जाति मे अविरोधी भाव से रह रहे है। पर-जाति की अपेक्षा उपर्युक्त धर्म विशेष है, क्योंकि ये धर्म अन्य द्रव्यों में नहीं पाए जाते है, अतः इसे विशेष संग्रह कह सकते हैं। स्व-जाति के विरोध के विना समस्त पदार्थों का एकत्व मे संग्रह करना ही 'संग्रह-नय' कहलाता है।

अध्यापक ने सब छात्रों के द्वारा की गई 'संग्रह नय' विषयक व्याख्या को दत्त-चित्त होकर सुना और साथ ही उन सभी के द्वारा वर्णित भिन्न-भिन्न लक्षणों को संकलित करते हुए अपने ढंग से संग्रह नय का विवेचन इस प्रकार किया —

अध्यापक

आप लोगों ने संग्रह-नय का भिन्न-भिन्न शैली से जो विवेचन किया है, वह निस्सन्देह विरोधी नहीं है। आशय तो सब का एक ही है, किन्तु कथन का ढंग एक-दूसरे से भिन्न है। जिस प्रकार किसी ने रुपये का स्वरूप बतलाते हुए कहा कि

१—संगहिय पिंडियत्थं संगह वयणं समासओ बिंति।

— अनुयोगद्वार, सूत्र

दो अठन्नियां का रुपया कहते हैं। किसी ने कहा चार चवन्नियां को, किसी ने आठ दुअन्नियां को, एवं सोलह आने को, बत्तीस टके को, चौंसठ पैसा को, तो किसी ने १९२ पाइयां का रुपया बतलाया। जैसे उपर्युक्त सभी वाचक भिन्न भिन्न है, किन्तु उन सभी वाचकों का वाच्य एक ही है।

सामान्य या अभेद का ग्रहण करने वाली दृष्टि 'संग्रह-नय' है। यह हम जानते है कि प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है, तथैव भेदाभेदात्मक है। इन दोनों धर्मों में से सामान्य या अभेद धर्म का ग्रहण करना और विशेष धर्म के प्रति, अर्थात्—भेद धर्म के प्रति उदासीनता प्रकट करना 'संग्रह-नय' है। वस्तुतः कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो सत् न हो। जिस प्रकार नीलादि आकार वाले समस्त ज्ञान, सामान्य ज्ञान के भेद हैं, उसी प्रकार जीवादि जितने भी तत्व है, सब सत् हैं। परन्तु संग्रह की मान्यता है कि सब एक है क्योंकि सब सत् हैं।

इस सम्बन्ध में स्थानांग सूत्र के एक स्थान में लिखा है कि—आत्मा एक है।—१ जबकि अन्य आगमों में आत्मा की संख्या अनन्तानन्त बतलाई गई है। फिर आत्मा की संख्या एक कैसे मानी जाए? ऐसी शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। अतः यह कहना पड़ेगा कि यह पाठ 'संग्रह-नय' की अपेक्षा से कहा गया है। आत्मा एक है, द्रव्यात्मा अथवा उपयोगात्मा की दृष्टि से। ये दो आत्मा-स्वरूप अल्प-विकासी

१—एगे आया।

—स्थानांग सूत्र, १—१

निगोद जीव से लेकर सम्पूर्ण-विकासी सिद्धात्मा पर्यन्त सभी जीवों में एक अर्थात् समान पाए जाते हैं। इसी प्रकार एगे पुण्णे पुण्य एक है, जबकि इसी सूत्र के नौवें स्थान में नौ प्रकार के पुण्य का उल्लेख है। इस शंका का समाधान भी संग्रह-नय की दृष्टि से हो जाता है। यद्यपि पुण्य अनेक प्रकार का है, फिर भी शुभ अध्यवसाय रूप होने के कारण वह सब एक ही है। यही बात 'एगे पावे' पाप एक है, इस सम्बन्ध में भी है। अशुभ अध्यवसाय रूप में परिणत आत्मा का परिणाम पाप है वह अनेक प्रकार का होते हुए भी अशुभत्वेन एक है। इस प्रकार स्थानांग सूत्र का पहला स्थान प्रायः 'संग्रह-नय' से ओत-प्रोत है।

द्रव्यावश्यक के करने वाले जितने भी व्यक्ति हैं, नैगम-नय, उतने ही द्रव्यावश्यक मानता है, किन्तु संग्रह-नय द्रव्यावश्यक रूप में सब को एक मानता है। इसी प्रकार द्रव्य-श्रुत के विषय में भी समझ लेना। वसति के विषय में—संग्रह नय मानता है कि जिस शय्या पर व्यक्ति आराम करता है, वह उसकी वसति है।

प्रदेश दृष्टान्त के विषय में—नैगम नय छह के प्रदेश मानता है। जैसे—धर्म प्रदेश, अधर्म प्रदेश, आकाश-प्रदेश, जीव प्रदेश, स्कन्ध-प्रदेश, देश प्रदेश। जबकि संग्रह-नय मानता है कि देश-प्रदेश के बिना पाँच के प्रदेश हैं, क्योंकि 'देश' उसी द्रव्य का एक भाग है, और उसके प्रदेश तो द्रव्य में ही सम्मिलित किये जा सकते हैं। स्वतन्त्र रूप में देश कोई चीज ही नहीं है। जैसे—मेरे गुलाम ने घोड़ा खरीदा

है', इस वाक्य में गुलाम भी मेरा है और घोड़ा भी मेरा। अतः ऐसा नहीं कहना चाहिए कि छह के प्रदेश होते हैं, बल्कि यह कहना चाहिए कि पाँच के प्रदेश हैं जैसे—धर्म-प्रदेश, अधर्म प्रदेश, आकाश प्रदेश, जीव-प्रदेश और स्कन्ध-प्रदेश।

महासामान्य के अवान्तर भेदों का ग्रहण करना संग्रह का कार्य है। 'अपर सामान्य,' पर-सामान्य के द्रव्य गुण आदि भेदों में रहता है, अर्थात्—द्रव्य में रहने वाली सत्ता 'पर-सामान्य' है और द्रव्य का जो द्रव्यत्व सामान्य है, वह 'अपर सामान्य' है। इसी प्रकार गुण में सत्ता पर-सामान्य' है और गुणत्व 'अपर-सामान्य' है जैसे—जीव द्रव्य में जीवत्व सामान्य अपर सामान्य है। इस प्रकार जितने भी अपर हो सकते हैं, उन सब का ग्रहण करने वाला अपर संग्रह है। घटत्व, पटत्व, गोत्व तथा ब्राह्मणत्व आदि उदाहरण अपर-सामान्य के ही बनते हैं।

'संग्रह-नय की दृष्टि से सभी मुक्तात्मा एक समान हैं, अर्थात्—पंद्रह भेद वाले सिद्धों की गणना संग्रह नहीं करता है। यदि इसे अभेद नय कहा जाए तो असंगत न होगा। जिस प्रकार चारित्रात्मा में पाँचों ही चारित्रों का संग्रह हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानात्मा में पाँचों ही ज्ञान का संग्रह हो जाता है। इसी क्रम के अनुसार कषायात्मा में चारित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों का संग्रह, और योगात्मा में पच्चीस योगों का संग्रह हो जाता है।

संग्रह-नय

संग्रहो मन्यते वस्तु,
सामान्यात्मकमेव हि ।
सामान्य-व्यतिरिक्तोऽस्ति,
न विशेष ख पुष्पवत् ॥

— नय-कर्णिका

संग्रह नय वस्तु को केवल सामान्यात्मक ही मानता है, क्योंकि सामान्य से अलग विशेष आकाश के फूल की तरह कोई अस्तित्व नही रखता ।

व्यवहार-नय

लौकिक सम उपचारप्रायो,
विस्तृतार्थो व्यवहार

— तत्त्वार्थ भाष्य, १—३५,

"ज सगहेण गहिय भेयइ अत्थ असुद्ध-सुद्ध वा।
सा ववहारो दुविहो असुद्ध-सुद्धत्थ भेयकरो॥"

— लघु नय-चक्र

सग्रह-नय से ग्रहण की गई समस्त द्रव्यो को एक जाति म विधिवत् भेद करने वाला, शुद्धार्थ-भेदक व्यवहार-नय है। यथा —द्रव्य के दो भेद है—'जीव' और 'अजीव', तथा उन अवान्तर जातियो म भी उपभेद करने वाला अशुद्धार्थ भेदक व्यवहार नय है। यथा—जीव के दो भेद हैं—'ससारी' और 'मुक्त'।

९ .

व्यवहार-नय

अध्यापक ने अपना संग्रह-नय विषयक वक्तव्य संक्षेप से निरूपण करके व्यवहार-नय का यथावश्यक विवेचन करने के लिए छात्रों को प्रारम्भ किया। तदनुसार छात्रों ने 'व्यवहार-नय' का विवेचन इस प्रकार किया—

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा—जिसके द्वारा सामान्य का निराकरण किया जाए और विशेष रूप से व्यवहार किया जाए, उसे 'व्यवहार नय' कहते हैं।—१

तत्त्व-ज्ञान के प्रसंग में सद्रूप वस्तु भी जड़ और चेतन रूप में दो प्रकार की है। आगम में जड़-पदार्थ पांच प्रकार से वर्णित हैं, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, कालद्रव्य और पुद्गलास्तिकाय। इनमें से पुद्गलास्तिकाय

१—विशेषतोऽवह्रियते, निराक्रियते सामान्यं येन, इति व्यवहारः।'

—विशेषावश्यक

ही रूपी तथा मूर्त है, शेष चार अरूपी और अमूर्त हैं।

चेतन तत्व के दो भेद हैं—मुक्त और संसारी। व्यवहार-नय के अनुसार मुक्तात्मा के पन्द्रह भेद आगम-विहित हैं, और संसारी जीवों के पाँच सौ तरेसठ भेद हैं। उक्त सामान्य तत्त्व के भेदानुभेद करके उसे व्यवहार में लाना ही इस नय का मुख्य ध्येय है।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"संग्रह-नय के द्वारा संगृहीत अर्थ का विधि पूर्वक अवहरण करना, अर्थात्—जिस अर्थ को संग्रह-नय ग्रहण करता है उसी अर्थ को विशेष रूप से जब बोध कराना हो, तब उसका पृथक्करण करना पड़ता है, यही व्यवहार-नय है।"—२। जैसे कि औषध मात्र कहने और जानने से सामान्य का ही बोध हो सकता है, विशेष का नहीं। विशेष तो होगा—देशी और विदेशी।

फिर प्रत्येक के चार-चार भेद हैं, जैसे—खाने की, पीने की, डालने की और लगाने की औषधियाँ। आगे चलकर उनके नाम, गुण, दोष, मात्रा तथा सेवन-विधि, और अनुपान आदि प्रत्येक के भिन्न-भिन्न भेद हैं। इस प्रकार जानकारी के द्वारा अध्यवसाय विशेष को व्यवहार में लाना ही लौकिक व्यवहार है। जो सामान्य तत्त्व व्यवहार-पथ पर सही नहीं

२—विधि-पूर्वकमवहरणं व्यवहारः।

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक

उतर सकता है, वह खर-शृङ्गवत् अवस्तु है। अत लौकिक क्रिया का सूत्र पात करने वाला 'व्यवहार नय' ही है।

तीर्थङ्कर भी छद्मस्थ को सन्मार्ग पर लगाने के लिए व्यवहार-नय का अनुसरण करते हैं। जो शिक्षा और उपदेश सूत्रों मे विहित है, वे सब प्रायेण व्यवहार-नय पर अवलम्बित हैं।

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—"विविध वस्तुओ को एक रूप मे सकलित करने के पश्चात् उनका विशेष रूप मे बोध कराना हो, या लोक-व्यवहार मे उपयोग करने का जब भी प्रसग आए, तब उनका विशेष रूप से भेद करके पृथक् करण करने वाली दृष्टि को व्यवहार नय कहते है।" जैसे कि मनुष्य कहने मात्र से भिन्न भिन्न प्रकार के मनुष्यो का अलग-अलग बोध नही हो सकता।—१

व्यवहार-नय मुख्यतया मनुष्य के चार भेद स्वीकार करता है, जैसे—कर्म-भूमिक, अकर्म-भूमिक, अन्तर्द्वीपक तथा सम्मूर्छिम, अथवा स्त्री, पुरुष, और नपुसक। इसी प्रकार चार वर्ण, और प्रत्येक वर्ण को भिन्न भिन्न जाति और भिन्न-भिन्न कुल, जैसे—धनी और निर्धन, रोगी और नीरोगी, सद्गुणी और दुर्गुणी, रूपवान और रूप विहीन, सज्जन और दुर्जन, आर्य और अनार्य, आदि अनेक भेद बन जाते हैं।

१—लोक-व्यवहारपरो वा विशेषतो यस्मात् इति व्यवहार,

— नय रहस्य

व्यवहार-नय वहाँ तक भेद करता जाता है, जहाँ तक पुन भेद की सम्भावना न हो।

शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार मनुष्य की चौदह लाख योनियाँ हैं। इन भेदों की कल्पना व्यवहार-नय पर ही अवलम्बित है। इस नय का मुख्य लक्ष्य है—व्यवहार-सिद्धि।

चतुर्थ छात्र

चौथे छात्र ने कहा— जो अध्यवसाय-विशेष लोक-व्यवहार के लिए अत्यन्त उपयोगी है, वही व्यवहार-नय है।" यह नय उसी पदार्थ की घट संज्ञा को स्वीकार करता है, जो जल धारण-आहरण आदि अर्थ में क्रियाकारी हो। जिस में अर्थ-क्रियाकारिता न हो, उसे घट नहीं मानता है। जिसमें शीत-निवारण एवं तनु आवरण आदि अर्थ-क्रियाकारिता न हो, उसकी पट संज्ञा को अङ्गीकार नहीं करता। जिसमें दस द्रव्य प्राणों में से एक भी प्राण न हो उसे प्राणी नहीं मानता। जिसमें विशिष्ट ज्ञान न हो, उसे ज्ञानी नहीं मानता।

यह नय ज्ञान के चार साधन स्वीकार करता है, जैसे - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और आगम। लोक-व्यवहार का भी यही मन्तव्य है, और व्यवहार-नय का भी, किन्तु दृष्टि में अन्तर है। लौकिक दर्शन एकान्त दृष्टि से किसी तत्त्व-विशेष को मानता है, जबकि व्यवहार-नय अनेकान्त दृष्टि से अपने विषय का ग्रहण करता है। यही दोनों में अन्तर है।

पचम छात्र

पाचवे छात्र ने कहा—'लौकिक के समान, और प्राय अधिकतर उपचार के आश्रयीभूत अर्थ को विस्तृत करने वाली दृष्टि को व्यवहार-नय कहते है।'—१ जैसे कि लोक-व्यवहार में भ्रमर तथा कोयल काली है, तोता हरा है, हस श्वेत है। किन्तु निश्चय दृष्टि से इनमे पाचो ही वर्ण हैं। किंशुक पुष्प निर्गन्ध है जबकि निश्चय दृष्टि को उसमे गन्ध मान्य है। लोक-व्यवहार अग्नि मे रस, वायु मे रूप मान्य नहीं करता है, जबकि निश्चय दृष्टि मान्य करती है।

फल सुकोमल तथा हल्का होता है, यह कथन भी व्यावहारिक ही है। निश्चय दृष्टि से तो फल मे आठो ही स्पर्श पाए जाते है। लोक व्यवहार मे जैसा प्रसिद्ध है, उसे तद्रूप मे ही स्वीकार करना 'लौकिक-सम' कहलाता है। उसी का व्यवस्थित तथा विशिष्ट दृष्टि से बतलाने वाला "व्यवहार-नय' है। चार्वाक आदि दर्शन केवल प्रत्यक्ष को ही मानते हैं शेष प्रमाणो का सर्वथा निषेध करते है। उनकी विचार धारा व्यवहार नयाभास मे अन्तर्भुक्त हो जाती है।

षष्ठ छात्र

छठे छात्र ने कहा—"जो अध्यवसाय विशेष वस्तु का

१—लौकिक-सम उपचार प्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः।

— तत्त्वार्थ भाष्य

विभाग उपचार रूप से करे, वह 'व्यवहार नय' है।[1] सर्व-द्रव्यो और उनके विषयो मे सदा प्रवृत्ति करने वाले नय को 'व्यवहार-नय' कहते है।' यह नय प्राय लोक-व्यवहार सरणि का अनुसरण करने वाला है। जैसे कि घडा चूता है। वस्तुत चूता तो पानी है, किन्तु कहने मे यही आता है कि घडा चूता है। रास्ता चलता है, कुँआ चलता है, नगर आया, पर्वत जलता है, आदि कथन व्यवहार-नय के अनुसार प्रचलित है। जहाँ औपचारिक रूप से भेद का कथन किया जाए वहा 'व्यवहार-नय' का अवतरण हो जाता है।

व्यवहार के लिए सदैव भेद-बुद्धि का अवलम्बन लेना पडता है। यह भेद-बुद्धि परिस्थिति की अनुकूलता को दृष्टि पथ मे रखते हुए अन्तिम भेद तक बढ सकती है, जिससे कि पुन भेद न हो सके। तीर्थङ्कर भगवान् भी व्यवहार की मर्यादा का अतिक्रमण नही करते। वस्तुत 'व्यवहार-नय' छद्मस्थो के लिए अत्यधिक उपयोगी है, और केवली भगवन्तो के लिए 'निश्चय-नय'। किन्तु फिर भी केवली भगवान् छद्मस्थ जनो का व्यवहार शुद्ध रखने के लिए स्वय ही 'व्यवहार-नय' का अनुसरण करते हैं। जैसे रात्रि के समय अभ्यन्तर परिषद मे रहना, (मल्लिनाथ भगवान् की अभ्यन्तर परिषद श्रमणी वर्ग था) और सूर्यास्त के बाद विहार न करना, इन दोनो व्यवहार-मर्यादाओ का पालन करते हैं।

---

[1]—"भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियते इति व्यवहार।"

— आलाप पद्धति

छेद सूत्रों में प्रमत्त साधकों के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। वह प्रायः व्यवहार की अशुद्धि, एवं संयम की स्खलना से बचने के लिए है। जहाँ साधक जीवन में अप्रमत्त अवस्था है, वहाँ भी व्यवहार की शुद्धि अनिवार्य हो जाती है।

यह व्यवहार-नय भी द्रव्य का ही ग्रहण करता है, किन्तु इसका ग्रहण भेद पूर्वक है, अभेद-पूर्वक नहीं।

सप्तम छात्र

सातवें छात्र ने कहा—"वच्चइ विणिच्छियत्थं ववहारो सव्व दव्वसु,' —१ इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए मलधारी हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं—

निश्चय-सामान्य विगतो निश्चयो विनिश्चय सामान्याभाव, तदर्थं तन्निमित्तं व्रजति प्रवर्तते सामान्याभावार्थमेव यतते व्यवहारो नय इत्यर्थः —२

अर्थात्—'सामान्य अभाव के लिए प्रवृत्ति करने वाले दृष्टिकोण को 'व्यवहार नय' कहते हैं।' यह लोक व्यवहार का अंग होने के कारण सामान्य को नहीं मानता। केवल विशेष का ही ग्रहण करता है। अथवा यों कहिए कि व्यवहार-नय लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाला है।

व्यवहार-नय के दो भेद हैं—सामान्य-भेदक और विशेष-भेदक। सामान्य संग्रह में भेद करने वाले नय को 'सामान्य

१—अनुयोग द्वार सूत्र

२—विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति

भेदक' व्यवहार नय कहते हैं। जैसे कि द्रव्य के दो भेद हैं—जीव और अजीव, रूपी और अरूपी, सक्रिय और निष्क्रिय, सप्रदेशी और अप्रदेशी, सचेतन और अचेतन, अगुरु-लघु और गुरु-लघु, भोक्ता और अभोक्ता आदि आदि।

विशेष संग्रह में भेद करने वाला विशेष-भेदक 'व्यवहार-नय' है। जैसे जीव के दो भेद—संसारी और मुक्त। छह द्रव्यों में पुद्गलास्तिकाय रूपी है, शेष पाँच अरूपी। जीव और पुद्गल कथंचित् सक्रिय हैं, शेष चार निष्क्रिय। एक काल-द्रव्य अप्रदेशी है, शेष पाँच सप्रदेशी। एक सचेतन द्रव्य भोक्ता है, शेष पाँच अभोक्ता। एक पुद्गलास्तिकाय कथंचित् गुरु-लघु है, शेष पाँच अगुरु-लघु। एक आकाशास्तिकाय क्षेत्र है, शेष पाँच क्षेत्री। पुद्गलास्तिकाय के सिवाय पाँच द्रव्यों में एक जीवास्तिकाय योगवान और योगवाली है, शेष चार अयोगवान, आदि विशेष-भेदक 'व्यवहार नय' है।

जब सभी छात्र अपनी-अपनी बुद्धि से व्यवहार-नय का विस्तृत विवेचन कर चुके, तब अध्यापक बोला।

अध्यापक

मेरे प्रिय शिष्यो! यद्यपि आप लोगों ने व्यवहार-नय का विवेचन यथाशक्य बहुत कुछ किया, तथापि मैं अवशिष्ट विषय का स्पष्टीकरण तथा उपसंहार करता हूँ। उसे ध्यान पूर्वक सुनो—

जो विचार सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप में संकलित वस्तुओं का व्यावहारिक प्रयोजनानुसार पृथक्करण

करता है, वह व्यवहार-नय है।

इसका विषय संग्रह नय से न्यून है, क्योंकि सामान्य से विशेष का विषय न्यून ही हुआ करता है। व्यवहार का विषय भेदात्मक और विशेषात्मक होते हुए भी द्रव्य रूप है, न कि पर्याय रूप। यही कारण है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों में से व्यवहार का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया गया है। नैगम, संग्रह, और व्यवहार ऋजुसूत्र इन चारों नयों का समावेश द्रव्यार्थिक नय में हो जाता है, शेष तीन नय-पर्यायार्थिक के भेद है। यह नय बाह्य स्वरूप का परिचायक है, और अपवाद मार्ग का अनुसरण करने वाला है।

'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।"

अर्थात्—शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता तथा उनका भोक्ता आत्मा ही है।—१

अप्पा चेव दमेअव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई, अस्सि लोए परत्थ य॥

अर्थात्—आत्मा को दमन करने के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए। आत्मा अतीव दुर्दम है। वस्तुतः दांतात्मा ही ऐहिक तथा पारलौकिक सुख का अधिकारी होता है।—२

एक ओर तो भगवान् ने आत्म विकास के लिए पूरा पूरा जोर दिया है, और दूसरी ओर आत्मा को दमन करने

१—उत्तराध्ययन सूत्र
२—उत्तराध्ययन सूत्र,

का कहा है। अब इन दोनों मार्गों में से कौन-सा ग्राह्य
यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है। इसका समाधान उक्त
में ही हो जाता है। यहाँ कषायात्मा तथा योगात्म
तात्पर्य है, इनका दमन करना ही आत्म-विकास है। इ
दमन संयम और तप से किया जा सकता है। संयम से
आस्रवों का प्रवाह रोका जाता है और तप से अन्दर
अन्दर कर्मों का शोषण करके उन्हें सत्ता-हीन बनाया ज
है। जैसे—अमृतपान शरीर व्यापी विष को निर्विष बना
है। यही उदाहरण तप में समझना चाहिए।

यह सब उपदेश व्यवहार-नय के अनुसार सम
चाहिए। क्योंकि कर्म-बन्ध और मोक्ष व्यवहार दृष्टि से
निश्चय दृष्टि से तो मूर्त और अमूर्त का परस्पर बन्ध
ही नहीं सकता। जब बन्ध ही नहीं, तो मुक्त होने का प्र
पैदा ही नहीं हो सकता। निश्चय में तो आत्मा न कर्त्ता
और न औदयिक दुःख और सुख का भोक्ता ही। यदि आ
को एकान्त-रूपेण कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता माना जाय,
सिद्ध भगवन्तों को भी संसारी जीवों की तरह कर्मों
कर्त्ता और भोक्ता मानना पड़ेगा। ऐसी मान्यता सिद्धान्त
स्वीकृत नहीं है। निश्चय दृष्टि तो ऐसा मानती है कि क
का कर्त्ता और भोक्ता कथंचित् कर्म ही है। निश्चय दृ
चारित्र को भी व्यवहार में समाविष्ट करती है, और आत
को केवल ज्ञाता एवं द्रष्टा ही मानती है। ये ही आत्मा
दो वास्तविक गुण हैं। चारित्र का सम्बन्ध [illegible]

नही, अत वहाँ चारित्र भी नही है। तप, जप, सयम, ध्यान, समाधि, स्वाध्याय आदि शुभ क्रियाएँ, व्यवहार-नय की सीमा म परिसीमित हैं। परोपकार, दान-शीलता, जीव-रक्षा, रोगोपचार अनुकम्पा, तथा अनाथ दीन-हीन दुखिया का सक्रिय सहयोग देना आदि शुभ क्रियाएँ भी व्यावहारिक हैं।

गुरु शिष्य को वाचना देते हैं, और शिष्य गुरु से वाचना लेते हैं, अर्थात्—विद्या का आदान प्रदान व्यावहारिक है। व्यवहार-नय साधक को निश्चय की ओर अभिमुख करता है, और निश्चय श्रेणी मे पहुँचने के पश्चात् वह व्यवहार-नय की श्रेणी म कथचित् नही रहता है। व्यवहार-नय चारो प्रमाणो तथा चारो निक्षेपो को स्वीकार करता है एव काल-त्रय को भी मान्य करता है। तीन लोक एव तीन योग को भी व्यावहारिक शैली म मानता है।

व्यवहार का स्वरूप अन्य प्रकार से भी ग्रथो म वर्णित है। जैसे—व्यवहार दो प्रकार का होता है। — (क) सद्भूत-व्यवहार, और (ख) असद्भूत-व्यवहार।

सद्भूत-व्यवहार का विषय एक वस्तु है, अर्थात्—जहाँ एक वस्तु म अभिन्न होते हुए भी भिन्नता की प्रतीति हो, वह सद्भूत-व्यवहार कहलाता है। जैसे—एक वृक्ष है, उसके साथ लगी हुई शाखाएँ और प्रतिशाखाएँ अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होती हैं। सद्भूत के दो भेद हैं—(क) शुद्ध-सद्भूत, और (ख) अशुद्ध-सद्भूत। शुद्ध-सद्भूत के भी दो भेद हैं—(अ) निरुपाधि शुद्ध गुण गुणी का भेद-कथन

६

करना, अथवा (ब) शुद्ध-पर्याय-शुद्ध-पर्यायी का भेद कथन करना। क्षायिक भाव म होने वाले कर्म विकाररहित शुद्ध आत्मा से उसके गुण और पर्याय का भेद कथन करना।

अशुद्ध-सद्भूत व्यवहार के भी दो भेद है—(क) अशुद्ध गुण गुणी का, (ख) तथा अशुद्ध पर्याय और पर्यायी का भेद-कथन करना। इसके साथ सोपाधि शब्द जोड़ देना चाहिए। जिसका अर्थ होता है—कर्म जनित विकार के साथ होने वाले परिणाम अर्थात्—औदयिक, औपशमिक तथा क्षायोपशमिक भावों मे होने वाले आत्म-परिणाम सभी सोपाधिक हैं। अशुद्ध गुण अशुद्ध-गुणी का उदाहरण मति-ज्ञान आदि चार ज्ञान, मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञान, आदि अशुद्ध गुण है।

जीव (अशुद्ध) गुणी क्षयोपशम-जन्य है। नैरयिक आदि औदयिक-जन्य अशुद्ध-पर्याय है जीव अशुद्ध पर्यायी है। शुद्ध सद्भूत को अनुपचरित सद्भूत और अशुद्ध सद्भूत को उपचरित सद्भूत भी कहते है।

जहाँ मुख्यता का तो अभाव हो, और किसी प्रयोजन के होने पर या किसी अन्य निमित्त के होने पर उपचार की प्रवृत्ति हुआ करती है, वह उपचार सम्बन्ध का सहचारी है, अर्थात्—उपचार और सम्बन्ध का परस्पर अविनाभाव है। जहाँ-जहाँ उपचार है, वहाँ-वहाँ सम्बन्ध अनिवार्य है। जैसे स्फटिक रत्न पर जपाकुसुम रखने से स्फटिक रत्न लाल हो जाता है क्योंकि स्फटिक रत्न द्रव्य है, और जपाकुसुम भी द्रव्य है। यह है—द्रव्य मे द्रव्य का

उपचार । जो आकार-संस्थान जपाकुसुम का है, वही आकार-संस्थान स्फटिक रत्न में प्रतिबिम्बित हो जाता है। यह है-द्रव्य में पर्याय का उपचार। जपाकुसुम का रंग लाल होता है, वही रंग स्फटिक रत्न में देखा जाता है, अतः यह है—द्रव्य में गुण का उपचार।

इसी प्रकार—गुण में गुण का उपचार, पर्याय में पर्याय का उपचार, गुण में द्रव्य का उपचार, गुण में पर्याय का उपचार, पर्याय में गुण का उपचार, पर्याय में द्रव्य का उपचार समझ लेना चाहिए। इस विश्लेषण के अनुसार उपचार के कुल छह भेद हैं।

असद्भूत व्यवहार के तीन भेद हैं जैसे—(क) स्वजाति असद्भूत व्यवहार, अर्थात्—परमाणु बहु-प्रदेशी है, यह कहना। (ख) विजाति असद्भूत व्यवहार जैसे—मति ज्ञान मूर्तिमान है क्योंकि वह ज्ञान मूर्त से जनित है, यह कहना। (ग) उभय असद्भूत व्यवहार, जैसे—ज्ञेय रूप जो जीव और अजीव हैं—उन्हें ज्ञान कहना, अर्थात्—यदि जीव न हो, तो ज्ञान किसी का हो ही नहीं सकता, अतः जीव अजीव को ज्ञान समझना। वस्तुतः बाह्य वस्तु तो सभी ज्ञेय हैं, और ज्ञान तो केवल आत्मा में ही है।

असद्भूत-व्यवहार नय का अन्य तीन प्रकार से भी वर्णन है—

(क) स्वजाति उपचरितासद्भूत व्यवहार अर्थात्—यह पुत्र मेरा है। इसी प्रकार मनुष्य जाति के समस्त सम्बन्ध इसी व्यवहार में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

(ख) विजातिउपचरित सद्भूत व्यवहार, अर्थात्—वस्त्र, आभरण, स्वर्ण, रत्न आदि मेरे हैं। यहाँ तात्पर्य अचित परिग्रह से है।

(ग) तदुभयोपचरिता-सद्भूत व्यवहार, अर्थात्—देश, राज्य, दुर्ग, नगर आदि मेरे हैं। यहाँ सचित्त और अचित्त, दोनो का ही परिग्रह समझना चाहिए।

ऋजुसूत्र-नय

"सता साम्प्रतानामर्थाना-
मभिधान-परिज्ञानम् ऋजु-सूत्र ॥"

— तत्त्वार्थ भाष्य, १–३५,

"स्वानुकूल वर्त्तमान ऋजु सूत्रो हि भाषते।
तत्र क्षणिक-पर्याय सूक्ष्म: स्थूलो नरादिकम् ॥"

— द्रव्यानुयोग तर्कणा ;

"अपने अनुकूल एवं केवल वर्तमान सम्बद्ध विषय को ही 'ऋजुसूत्र नय' ग्रहण करता है। उसमें भी सूक्ष्म ऋजुसूत्र क्षणिक पर्याय को, और स्थूल ऋजुसूत्र मनुष्य आदि पर्याय का ग्रहण करता है।"

१०

ऋजुसूत्र-नय

व्यवहार-नय के पश्चात् अध्यापक ने छात्रों से 'ऋजुसूत्र विषयक विवेचन करने के लिए निर्देश किया। निर्देश पाकर छात्रों ने ऋजुसूत्र की इस प्रकार व्याख्या की —

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा—"वर्त्तमान क्षण में होने वाली पर्याय को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाले अध्यवसाय विशेष को 'ऋजुसूत्र-नय' कहते हैं।' जैसे—'इस समय में सुख की पर्याय है,' यहाँ वर्तमान क्षण स्थायी सुख-पर्याय को प्रधान मानकर अधिकरण भूत आत्मा को गौण रूप से स्वीकार करता है, अर्थात्—आत्मा के अनन्त पर्यायों में से वर्त्तमान क्षण में किसी एक पर्याय को दृष्टि पथ में रखकर पर्यायों को गौणता प्रदान करना ही इस नय का मुख्य विषय है।—१

१—"प्रत्युत्पन्न ग्राह्याध्यवसाय विशेष ऋजु सूत्र।'

— नयसार

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—'जो सीधे ढग मे वस्तु को मुक्ता-फल की तरह एक सूत्र म पिरोए, वह श्रुत ज्ञान विशेष ऋजुसूत्र कहलाता है।'—१

जो मोती के वर्त्त मान क्षण म विद्ध हैं, वस्तुत वे ही, एक लटी म पिरोये जा सकते हैं—दूसरे प्रकार के नही। इसी प्रकार अतीत क्षण की पर्याय भग्न मोती के समान है और अनागत क्षण की पर्याय अविद्ध मोती के सदृश हैं। अत दोनो तरह के मोती हार म पिरोने के अयोग्य है। केवल विद्ध मोती ही सूत्र मे पिरोया जा सकता है। वह है वर्त्त मान पर्याय, जिसको ऋजुसूत्र-नय का विषय कहते हैं। सीधे ढग से केवल वर्त्त मान पर्याय ही ग्राह्य है, और यही कार्य साधक है। इसके सिवाय अतीत और भावी से किसी भी कार्य की सिद्धि नही हो सकती। जसे—इस घट मे घृत था, और उसम मधु। अस्तु, इस घट मे घृत डालेगे, और उसम मधु। उक्त रिक्त घट को देखकर घृताकाक्षी तथा मधु के इच्छुक की आशा पर तुषारपात हो जाता है, उनसे मनोरथ सफलीभूत नही हो सकता, किन्तु वर्त्त मान क्षण-वर्ती घृत-घट तथा मधु घट से ही कार्य की सिद्धि हो सकती है।

१—ऋजुम्-अवक्र वस्तु सूत्रयतीति ऋजु सूत्र।'

— नय प्रदीप

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—'ऋजुम् अवक्र श्रुतमस्य सोऽयमृजुश्रुत'।

'ऋजु का अर्थ है—वर्त्तमान पर्याय अनुलक्षी। श्रुत का अर्थ है—श्रुत ज्ञान, , अर्थात्-जो श्रुतज्ञान वर्त्तमान पर्याय-अनुलक्षी है, उसे 'ऋजुश्रुत नय' कहते हैं। यह नय अतीत तथा भावी पर्याय को कुटिल मानता है, और केवल वर्त्तमान कालीन पर्याय को ही ज्ञान का सरल मार्ग मानता है। अतीत वासना की स्मृति और भविष्य की चिन्ता—ये दो प्रकार की कुप्रवृत्तियाँ हैं, जो भले ही ससारी मनुष्य के लिए लाभ-दायक हों, परन्तु आध्यात्मिक साधक के लिए बहुत कुछ हानिकर हैं। किसी ने ठीक कहा है—

"गतं शोको न कर्त्तव्यो भविष्यन्नैव चिन्तयेत्।
वर्त्तमानेन कालेन, वर्तयन्ति विचक्षणाः॥"

अथवा

"गई वस्तु सोचे नहीं, आगम वाछा नाहि।
वर्त्तमान वर्ते सदा, सो ज्ञानी जग माहि॥"

यह कथन भी कथचित् ऋजुसूत्रानुसारी है। जो साधक वर्त्तमान काल मे सतत उपयोगवान्, अप्रमत्त तथा विवेक युक्त होकर विहग की तरह अनन्त ज्ञान रूपी आकाश मे विचरण करता है, वस्तुत ज्ञानी वही है, और मुमुक्षु भी वही है। वर्तमान कालीन जीवन को सफल बनाना ही इस नय का मुख्य उद्देश्य है।

चतुर्थ छात्र

चौथे छात्र ने कहा—"भेद अथवा पर्याय की विवक्षा से जो कथन है, वह 'ऋजुसूत्र नय' का विषय है।"

जिस प्रकार संग्रह का विषय 'अभेद' है, उसी प्रकार ऋजुसूत्र का विषय 'भेद' अथवा 'पर्याय' है। यह नय भूत और भविष्यत् की कथंचित् उपेक्षा करके केवल वर्तमान को ही ग्रहण करता है। यह नय दो विभागों में विभक्त है, जैसे—(क) सूक्ष्म ऋजुसूत्र, और (ख) स्थूल ऋजुसूत्र। जो समय मात्र की वर्तमान पर्याय है, उसे पहला भेद ग्रहण करता है। यथा वैषयिक सुख क्षणिक तथा आपात मात्र हैं। जैसे—दीपक की शिखा क्षणिक है, शब्द क्षणिक है। इत्यादि उदाहरण पहले भेद में अन्तर्निहित है।

जो असंख्यात समयों की वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है, वह दूसरा भेद है। यह वर्तमान, आयु पर्यन्त रहता है। इसका क्षेत्र जघन्य क्षुल्लक भव (२५६ आवलिकाओं का एक खुड्डाग भव होता है) उत्कृष्ट ३३ सागरोपम का होता है। कर्म-बन्ध तथा उनकी निर्जरा वर्तमान में ही होती है, अतः वर्तमान क्षेत्र का तथा वर्तमान काल का दायरा बहुत बड़ा है।

पंचम छात्र

पांचवें छात्र ने कहा—"ऋजुम् अकुटिलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्र।"

जो वर्तमान कालिक पर्याय है, वस्तुतः वही वस्तु है और

शेष अतीत तथा अनागत पर्याय कुटिल होने के कारण वर्त-मान में नहीं है। जो वर्त्तमान में नहीं है, वह कथंचित् असत् है जैसे—जिसके सींग नहीं आए उसे शृङ्गी नहीं कहा जा सकता है। जिस कुंजर के दाँत नहीं आए उसे दन्ती नहीं कहा जा सकता है। जन्म-जात को जैसे भाव-श्रमण नहीं कहा जाता है, वैसे ही भ्रष्टाचारी को भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु जिसका जीवन श्रमणत्व में ओत प्रोत हो, वही भाव श्रमण है।

लौकिक व्यवहार में जो जन्म-काल से दरिद्रता की दासता में रहा हो, या कोई दिवालिया हो, तो दोनों को धनाढ्य नहीं कहा जा सकता। किन्तु जिसके पास धन-राशि विद्यमान है, उसे ही धनाढ्य कहा जाता है। एक व्यक्ति है, जो अभी तक निरक्षर भट्टाचार्य है, परन्तु भविष्य में विद्वान बनेगा। दूसरा व्यक्ति अनभ्यास के कारण कण्ठस्थ विद्या बिल्कुल भूल गया। वर्त्तमान में दोनों में कार्य सिद्धि नहीं हो सकती फलत उन्हें विद्वान भी नहीं कहा जा सकता। जिसके मस्तिष्क में प्रष्टव्य विषय रेडियम की भाँति वर्तमान में प्रतिभासित हो रहा हो, उसे ही विद्वान कहा जाता है। अत ऋजुसूत्र का विषय वर्त्तमान पर्याय है।

षष्ठ छात्र

छठे छात्र ने कहा—'भूत और भविष्य की अपेक्षा न करके वर्त्तमान पर्याय मात्र को ही जो ग्रहण करे, उसे

'ऋजुसूत्र नय कहते है।"—१

मनुष्य अनेक बार तात्कालिक परिणाम की ओर झुक जाता है, केवल वर्तमान काल को ही अपना प्रवृत्ति क्षेत्र बना लेता है। ऐसी परिस्थिति मे उसके मस्तिष्क मे ऐसी प्रतीति होने लगती है कि जो वर्तमान मे है, वही सत्य है। अतीत और अनागत वस्तु से उसका कोई सम्बन्ध नही रहता। इसका अर्थ यह नही, कि वह अतीत और अनागत का निषेध करता है, किन्तु प्रयोजन के अभाव मे उनकी ओर उदासीनता अवश्य है।

ऋजुसूत्र नय के मत से वस्तु की प्रत्येक अवस्था मे भेद है। प्रत्येक अवस्था अपने-अपने क्षण तक ही सीमित है, फिर चाहे वह अवस्था इस क्षण की हो, या दूसरे क्षण की। "स्फटिक रत्न श्वेत है," इस वाक्य मे प्रस्तुत नय का कहना है, कि स्फटिक रत्न, स्फटिक रत्न है, और श्वेतता, श्वेतता है। क्योकि स्फटिक रत्न और श्वेतता भिन्न भिन्न अवस्थाएँ है। यदि स्फटिक रत्न और श्वेतता एक अवस्था होती, तो सगमरमर भी श्वेत होने के नाते स्फटिक रत्न हो जाता, क्योकि वह भी श्वेत है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति मे वर्णित है कि सूर्य सदैव वर्त्तमान मे क्रिया करता है। वैसे तो क्रिया वर्त्तमान मे ही हुआ करती है, फिर भी सूत्रकार ने विशेषता बतलाने के लिए

१—सता साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञान ऋजुसूत्र।

— तत्त्वार्थ भाष्य

स्थान से कथन किया है, क्योंकि सूर्य की वर्तमान गति विधि से ही समय का प्रारम्भ होता है। इस समय को वर्तमान कहते हैं इसे सूक्ष्म ऋजुसूत्र भी कहते हैं और यह वर्तमान सबसे छोटा माना गया है।

यह नय क्षणिक-वाद में विश्वास रखता है, अत एव प्रत्येक अवस्था को अस्थायी मानता है। काल भेद से वस्तु में भेद मानता है, अतः यह द्रव्यार्थिक न होकर पर्यायार्थिक नय है—यह मान्यता दार्शनिकों की है। परन्तु आगमकारों की मान्यतानुसार ऋजुसूत्र नय भी द्रव्यार्थिक नय है। जो द्रव्यार्थिक नय है वह चार निक्षेपों को मानता है। साकार उपयोग और अनाकार उपयोग इन दोनों में से एक काल में एक ही उपयोग मानना, यह मान्यता भी ऋजुसूत्र-नय के कारण ही प्रचलित है।

सप्तम द्वार

उत्तर द्वार। इस— जो विचार भूत और भविष्यत् को ग्रहण न करके केवल वर्तमान को ही ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्र-नय है। —१

ऋजुसूत्र-नय द्रव्य निक्षेप में वर्तमानकालिक भाव को मानता है, भूत और भावी निक्षेप को नहीं। यह नय वस्तुतः द्रव्यार्थिक है, पर्यायार्थिक तो कथंचित् ही कहा गया है। यदि ऋजुसूत्र-नय को पर्यायार्थिक-नय कहा जाए, तो यह

१—"पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो ॥"
— अनुयोगद्वार, निक्षेपाधिकार भाष्य.

मा यता मूल सूत्र के विरुद्ध है, क्योकि अनुयोगद्वार सूत्र मे एक पाठ आता है—"उज्जुसूअस्स एगे अणुवउत्ते एग दव्वावस्सयं पुहत्तं णेच्छइत्ति।" इस सूत्र से सिद्ध होता है कि नैगम से लेकर ऋजुसूत्र-नय तक चार नय द्रव्यार्थिक हैं, क्योकि पर्यायार्थिक-नय केवल भाव-निक्षेप को ही मानता है, और द्रव्यार्थिक-नय चारो ही निक्षेप को स्वीकार करता है। यदि कोई आगम-पाठी उपयोग शून्य होकर आगम का स्वाध्याय कर रहा है, तो उसे भी यह द्रव्य-आगम मानता है, तथा लिपि बद्ध आगम को भी द्रव्य आगम मानता है। यह नय काल को अप्रदेशी मानता है, जबकि व्यवहार नय काल को अनन्त मानता है।

इस नय की मुख्य दृष्टि वर्तमान पर रहती है, क्योकि इस नय का विषय वर्तमान काल से ही सम्बन्धित है। जिस प्रकार काल भेद से वस्तु-भेद की मान्यता है, उसी प्रकार देश-भेद से भी वस्तु-भेद की मान्यता है।

भगवान् महावीर ने राजा श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए धन्य अनगार को चौदह हजार साधुओ मे सर्वश्रेष्ठ साधक कहा था। यह कथन ऋजुसूत्र-नय के अनुसार था। क्योकि उस समय अन्य मुनियो की अपेक्षा से धन्य अनगार की भावना सर्वस विशुद्ध थी। इसलिए भगवान् ने धन्य अनगार की साधना की भूरि-भूरि प्रशसा की।

ऋजुसूत्र-नय के सम्बन्ध मे सातो छात्रो की विशद व्याख्या सुनने के बाद अध्यापक ने भी उक्त विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा—

अध्यापक

प्रिय छात्रो ! यद्यपि तुमने ऋजुसूत्र-नय का बहुत कुछ विवेचन भिन्न भिन्न शैली से किया है तथापि उसके अव्यक्त विषय को स्पष्ट करने के लिए, तथा जो तुम्हारी स्मृति-पथ में आवश्यकीय प्रतिपाद्य विषय प्रतिभासित नही हो सका, उसे स्मरण करवाने के लिए मै स्पष्ट करता हूँ। ध्यान-पूर्वक सुनिए—

"पर्याय की अवस्थिति वर्तमान काल मे ही होती है। भूत और भविष्यत् काल मे तो द्रव्य ही रहता है।"

सामान्य अथवा अभेद को विषय करने वाले नय को द्रव्यार्थिक-नय कहते हैं, और भेद अथवा पर्याय (विशेष) को विषय करने वाले नय को पर्यायार्थिक-नय' कहते हैं। श्री जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण का अनुसरण करने वाले सैद्धान्तिक विद्वान द्रव्यार्थिक नय के चार भेद मानते हैं, और पर्यायार्थिक नय के तीन भेद। परन्तु सिद्धसेन दिवाकर आदि तार्किकों के मतानुयायी द्रव्यार्थिक के तीन भेद, और पर्यायार्थिक के चार भेद मानते हैं। द्रव्यार्थिक-नय का स्थान नित्य है, और पर्यायार्थिक नय का अनित्य। द्रव्य मे पर्याय सूक्ष्म है, क्योकि एक ही द्रव्य मे अनन्त पर्याय हैं, अर्थात्—अनादि अनन्त पर्यायो के समूह का नाम ही द्रव्य है।

पर्याय दो प्रकार की होती है—(क) द्रव्य पर्याय, और (ख) गुण-पर्याय। द्रव्यो की पर्याय भी दो प्रकार की होती हैं—(क) स्वाभाविक, और (ख) वैभाविक। यही क्रम गुणो की पर्याय का भी है। इसका संक्षिप्त , विवरण इस

प्रकार से है—

जीव की भव-पर्याय वैभाविक है, और सिद्धत्व-पर्याय स्वाभाविक। यह है—जीव-द्रव्य की पर्याय।

तीन अज्ञान गुण—वैभाविक पर्याय है, और पाँच ज्ञान—स्वाभाविक पर्याय है। कषायात्मा और योगात्मा वैभाविक पर्याय हैं। शेष आत्माएँ—स्वाभाविक। औदयिक भाव की परिणति—वैभाविक पर्याय है और औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव की परिणति—स्वाभाविक पर्याय हैं।

दु:खानुभव तथा भौतिक सुखानुभव दोनों ही वैभाविक पर्याय हैं और आध्यात्मिक सुख—स्वाभाविक। ये सभी पर्याय जीव द्रव्य के गुणों की है।

पुद्गलास्तिकाय की पर्याय दो प्रकार होती हैं, जैसे—(क) विश्रसा, तथा (ख) प्रयोगज। विश्रसा का अर्थ है—स्वयं अर्थात्—स्वाभाविक रूप से पर्याय पलटना। प्रयोगज का अर्थ है—जीव की वैभाविक पर्याय के साथ-साथ जो पुद्गल परिवर्तित होता है, अर्थात्—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक यावन्मात्र जीव है, वे सब वैभाविक पर्याय वाले है। उनके द्वारा पुद्गलों में जो परिवर्तन होता है, वह पुद्गल की प्रयोगज पर्याय कहलाती है। उदाहरण के रूप में लीजिए—

जितनी भी धातुएँ है—रत्न, पाषाण, एवं मणि आदि, वे सब पृथ्वीकाय के शरीर है। यदि पृथ्वी-कायिक जीवों का अस्तित्व न होता, तो उपर्युक्त वस्तुओं का बिल्कुल ही अभाव होता।

इसी प्रकार बीज, अकुर, पत्र, पुष्प, फल, वृक्ष, काष्ठ आदि वनस्पति-कायिक जीवो के प्रयोगज पर्याय हैं। सीप, शख मोती, रेशम, मणि, मधु, विष, शरीर एव शरीर-गत धातु तथा जितनी भी उपधातुएँ हैं, वे सभी त्रस प्राणियो के द्वारा परिवर्तित की हुई पुद्गल पर्याय है, जिन्हे हम प्रयोगज पर्याय कहते हैं।

एकत्व, पृथक्त्व सख्या, सस्थान, सयोग, विभाग आदि पुदगल-द्रव्य की पर्याय कहलाती है। वर्ण, गध, रस और स्पर्श, तथा इनकी षड गुण हानि-वृद्धि गुण-पर्याय है। पर्याय की अवस्थिति वर्त्तमान मे ही होती है, भूत और भविष्यत् काल मे तो केवल द्रव्य ही रहता है। ऋजुसूत्र-नय क्षणिक-वाद मे विश्वास रखता है, इसलिए वह प्रत्येक वस्तु को अस्थायी मानता है।

प्रश्न—बौद्ध दर्शन क्षणिक वाद को मानता है, और प्रस्तुत नय भी वर्त्तमान काल मे होने वाली पर्याय को ही मानता है, भूत और भविष्यत् को नही मानता, तो इन दोनो मे क्या अन्तर है ?

उत्तर—क्षणिकवादी बौद्ध-दर्शन, द्रव्य की सत्ता मानने से बिल्कुल इन्कार करता है, और केवल पर्याय को ही अपने दृष्टिकोण मे रखता है, किन्तु ऋजुसूत्र नय वस्तु की सत्ता का अपलाप नही करता बल्कि उसे गौण मानता है, और पर्याय को मुख्य। यही दोनो मे अन्तर है। अतीत काल की पर्याय ध्वसाभाव मे सम्मिलित हो गई, और भविष्यत् की पर्याय प्रागभाव मे गर्भित है। तात्पर्य यह है कि वर्त्तमान मे

उक्त दोनो का सदभाव नही। जिसका वर्त्तमान म सद्भाव नही है, उसका ग्रहण भी कम किया जा सकता है।

प्रश्न—सूत्र म परमाणु-गत वर्ण, गध, रस तथा स्पर्श का वर्णन तो पर्याप्त मिलता है, परन्तु इस विषय म कतिपय आचार्यों की धारणाएँ ऐसी चली आ रही हैं कि वर्त्तमान कालिक परमाणु म जो वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श है, व सदा काल भावी है। उन गुणो म कोई परिवर्तन नही होता है।

जो वर्त्तमान काल म जघन्य गुण काला है, वह सदैव ही जघन्य-गुण काला रहेगा, और जो उत्कृष्ट-गुण काला है, वह उत्कृष्ट-गुण काला ही रहेगा। जघन्य गुणी—उत्कृष्ट गुणी नही बन सकता, और उत्कृष्ट गुणी—जघन्य गुणी नही बन सकता।

कतिपय आचार्यों की धारणाएँ उपयुक्त मान्यता के बिल्कुल विरुद्ध हैं। उनका अभिमत है कि परमाणु म जो वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श वर्तमान काल म हैं, कालान्तर म वे अन्य वर्ण, गन्ध, रस, तथा स्पर्श के रूप म परिणत हो जाते हैं। जो जघन्य गुण काला है, वह कभी उत्कृष्ट गुण काला भी हो सकता है। और जो उत्कृष्ट गुणकाला है, वह कालान्तर म जघन्य गुण काला भी हो सकता है। यही बात गन्ध, रस, तथा स्पर्श के विषय मे भी है।

प्रश्न—इन दोनो परम्पराओ मे कौन सी धारणा आगम-सम्मत है?

उत्तर—जैन धर्म अनेकान्तवादी है। विश्व मे बडे से

बडा और छोटे से छोटा ऐसा कोई पदार्थ नही है, जिस पर अनेकान्त-वाद की अमिट छाप न लगी हो, अर्थात्—सकल पदार्थ पर अनेकान्त वाद का अनुशासन अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल पर्यन्त रहेगा।—अनेकान्त-वाद पदार्थ का यथार्थ स्वरूप बतलाता है। पदार्थ का जैसा स्वरूप है, उसका वैसा ही प्रतिपादन करने वाला है। समय क्रम के अनुसार जो घडी सूर्य का अनुसरण करती है, वही घडी ठीक मानी जाती है। सूर्य का अनुसरण तो घडी ही करती है, न कि सूर्य घडी का। क्योकि मनुष्य-कृत यन्त्र होने के कारण घडी रुक भी सकती है और घडी की सूई आगे-पीछे भी की जा सकती है, किन्तु इसका यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि घडी रुक गई तो सूर्य भी रुक जाएगा और घडी की सूई को आगे-पीछे करने से सूर्य भी आगे-पीछे हो जाएगा।

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि जो घडी सूर्य के अनुकूल चलती है, वही घडी जनता के लिए प्रामाणिक सिद्ध हो सकती है। फिर उपचार से हम यह भी कह सकते है कि सूर्य ठीक घडी के अनुसार ही चलता है। बस, इसी का नाम अनेकान्त वाद है और जो विचार धारा ठीक वस्तु-तत्त्व का अनुसरण करती है, वही विचार पद्धति अनेकान्त वाद है। जो मनुष्य अपनी घडी की सूई को पीछे हटाता है या आगे बढाता है अथवा घडी को रोकता है, इस आशय से कि सूर्य भी विलम्ब से उदय हो या जल्दी उदय हो, अथवा कुछ घंटे के लिए सूर्य भी रुक जाए, तो ऐसा समझना मिथ्यात्व है। मिथ्या दृष्टि व्यक्ति पदार्थों पर अपने बनाए हुए

सिद्धान्तों पर मुहर छाप लगाना चाहता है, अर्थात् सभी पदार्थ मेरे ही अनुशासन में चलें, पर ऐसा होना असम्भव है। वास्तव में पाँच और पाँच दश कहना प्रामाणिक है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति गणितानभिज्ञ है, और वह पाँच और पाँच को 'नौ' या 'ग्यारह' कहे, तो वह अनभिज्ञों में भले ही प्रतिष्ठा प्राप्त करले, किन्तु उसका कथन तीनों काल में गलत ही रहेगा, ऐसा विशेषज्ञों का अभिमत है। बस, इसी का नाम एकान्त-वाद या असम्यग्वाद है।

जैन दर्शन प्रत्येक पदार्थ में तीन अवस्थाएँ मानता है। जैसे—द्रव्य, गुण, और पर्याय। द्रव्य और गुण ये दो तो स्थायी हैं, किन्तु पर्याय परिणमनशील है। पर्याय द्रव्य की भी होती है और गुण की भी। द्रव्य और गुण को छोड़कर पर्याय कोई अलग पदार्थ नहीं है। जैन-दर्शन, वैशेषिक दर्शन की भाँति परमाणु को ऐसा नहीं मानता कि—वह सदा काल पृथ्वी-रूप ही है, जल-रूप ही है, तेजोरूप ही है या वायु-रूप ही है, अथवा द्वयणुकादि-उत्पत्ति काल में वह परमाणु क्षण मात्र निर्गुण भी बन जाता है।

जैन दर्शन तो परमाणु को परिवर्तनशील ही मानता है, अर्थात्—एक परमाणु में पाँच वर्णों में से एक वर्ण, दो गन्धों में से एक गन्ध, पाँच रसों में से एक रस, तथा आठ स्पर्शों में से दो स्पर्श होते हैं। शीत-रूक्ष या उष्ण-रूक्ष, तथा शीत स्निग्ध या उष्ण स्निग्ध, इन चार विकल्पों में से कोई-सा भी स्पर्श-विकल्प पाया जा सकता है, परन्तु कर्कश या मृदु, और हल्का या भारी ये चार स्पर्श परमाणु में नहीं पाए जाते हैं।

वनमान मे यदि परमाणु काना है, तो वह कालान्तर मे सफेद, लाल तथा पीले रूप में भी परिणत हो सकता है। दुर्गन्ध, सुगन्ध के रूप मे और सुगन्ध दुर्गन्ध के रूप मे परिणत हो सकता है। जिसका रस मीठा है, वह खट्टे रूप मे, कटुक रूप मे, तथा तिक्त रूप मे परिणत हो सकता है। जो शीत रूक्ष स्पर्श वाला है, वह कालान्तर मे उष्ण-स्निग्ध के रूप मे भी परिणत हो सकता है। इसी प्रकार जो जघन्य गुण उष्ण-स्निग्ध है, वह कालान्तर मे उत्कृष्ट-गुण उष्ण स्निग्ध भी हो सकता है। और जो उत्कृष्ट गुण उष्ण-स्निग्ध है, वह जघन्य गुण उष्ण-स्निग्ध स्पर्श वाला भी हो सकता है। क्योंकि व्याख्या प्रज्ञप्ति मे एक प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वय भगवान् ने प्रतिपादन किया है कि—

"परमाणु पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है और पर्याय से अशाश्वत है, अर्थात्—द्रव्य पर्याय और गुण-पर्याय दोनो ही अशाश्वत हैं। क्योंकि पर्याय उत्पाद और व्यय पर निर्भर है। द्रव्य और गुण ये दोनो ध्रौव्य पर निर्भर है। ध्रौव्य सदा-शाश्वत है, और उत्पाद तथा व्यय ये दोनो सदा अशाश्वत है।

परमाणु मे द्रव्य-पर्याय और गुण पर्याय अनन्त हैं। उनमे सख्यात पर्यायो का आविर्भाव रहता है और शेष अनन्त पर्यायो का तिरोभाव। द्रव्य की सत्ता का सर्वथा निषेध करके केवल पर्याय मात्र को ही मानना, यह 'ऋजु-सूत्र नयाभास' है।'

ऋजु सूत्र-नय

यस्मिन् समये वस्तु-
पर्याय यस्तु पश्यति।
ऋजु-सूत्रा भवेत् सूक्ष्म
स्थूल स्थूलार्थ-गोचर ॥

—नय-चक्र

ऋजु सूत्र नय दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म ऋजु सूत्र और स्थूल ऋजु सूत्र। जो मात्र एक समय की ही पर्याय को ग्रहण करता है, वह सूक्ष्म ऋजु सूत्र है। जो स्थूल द्रव्य-पर्याय को ग्रहण करता है, वह स्थूल ऋजु सूत्र है।

शब्द-नय

काजादि-भेदेन ध्वनेरर्थ-भेद
प्रति-पद्यमान शब्द.

— प्रमाण नय तत्वालोक, ७–३२,

अर्थं शब्द-नयोऽनेकैः, पर्यायैरेकमेव च ।
मन्यते कुम्भ-कलश घटाद्येकार्थ-वाचकाः ॥

— नय कर्णिका, १४

"शब्द-नय अनेक पर्याय, अर्थात्—अनेक शब्दों द्वारा सूचित वाच्यार्थ को एक ही पदार्थ समझता है, यथा—कुम्भ, कलश और घट आदि शब्द एक ही पदार्थ के वाचक हैं।"

• ११

शब्द-नय

'ऋजुसूत्र-नय' विषयक वक्तव्य समाप्त करके अध्यापक ने छात्रों को शब्द नय का विवेचन करने के लिए प्रेरित किया। तदनुसार छात्रों ने अपने अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए—

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा कि—'शप् आक्रोशे शपनमाह्वान मिति शब्दः।'—१

अर्थात्—शप् धातु से 'शब्द' बनता है। अपने अभिप्राय को दूसरे के सामने व्यक्त करने का सर्वोत्तम साधन 'शब्द' ही है। अभिप्राय-पूर्वक शब्द का प्रयोग समष्टि में सीखा जाता है, व्यष्टि मे नहीं। शब्द के दो भेद हैं—

(क) ध्वन्यात्मक, (ख) और वर्णात्मक।

(क) ध्वन्यात्मक—जैसे टेलीग्राफ की टक्-टक् घंटी का

१—विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति।

बजना, घडी का अलाम और मोटर का हार्निङ्ग, आ
विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ, इसे अनक्षर-श्रुत भी कहते है।

(ख) 'वर्णात्मक-शब्द' अथवा 'अक्षर-श्रुत भाषा वि
कहलाता है। वस्तुत शब्द नय का साम्राज्य अक्षर-श्रुत प
निर्भर है। अक्षर श्रुत म भी ऋजुसूत्र-नय से शब्द-नय क
क्षेत्र बहुत कुछ सीमित है। ऋजुसूत्र नय लिग-भेद से अ
म भेद नहीं मानता। जैसे—तट, तटी, तटम्। इन तीन
वाचकों का वाच्य एक ही है, किन्तु शब्द नय लिंग भेद
अर्थ-भेद मानता है। भाव निक्षेप के बिना नाम, स्थापन
तथा द्रव्य निक्षेप को शब्द नय स्वीकार नहीं करता, क्यों
उपर्युक्त तीनों निक्षेप भाव निक्षेप से भिन्न क्षेत्र म भी पा
जा सकते है। किन्तु भाव निक्षेप के अन्तर्गत जो नाम
स्थापना और द्रव्य-निक्षेप है, उन्हे कथचित् स्वीकार क
लेता है। जैसे—भाव तीर्थङ्कर म नाम, स्थापना और द्रव्य
ये तीनों निक्षेप गर्भित हो जाते है। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय
यह एक द्रव्य-विशेष का वाचक है, यह 'नाम निक्षेप' हुआ
उसका आकार लोकाकाश जितना है, यह 'स्थापना-निक्षेप
हुआ। द्रव्य होने के नाते 'द्रव्य-निक्षेप' भी है, और गति-धर्म
होने म 'भाव निक्षेप' तो है ही। इस प्रकार शब्द-नय म भी
चारों निक्षेप पाए जा सकते हैं, किन्तु भाव-निक्षेप-विहीन,
आदि के तीन निक्षेप शब्द नय को सर्वथा अमान्य है।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"शपति वाऽह्वयतीति शब्द ।"—१

१—विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति।

अर्थात्—जिससे किसी को बुलाया जाए, या किसी संकेत के द्वारा अपना अभिप्राय व्यक्त किया जाए, वह 'शब्द' कहलाता है। वैसे तो बधिर तथा मूक भी अपनी चेष्टाओं के द्वारा अपने भाव दूसरे के समक्ष रख सकता है, फिर भी शब्दों के द्वारा जितने स्पष्ट रूप में अर्थ व्यक्त किया जा सकता है, उतने स्पष्ट रूप में अन्य किसी चेष्टा के द्वारा नहीं किया जा सकता है। शब्दों के रूप में श्रुत ज्ञान ही परिणत हो सकता है, शेष-ज्ञान नहीं। शेष ज्ञान तो सदैव अर्थ रूप में ही रहते हैं। शब्द-शास्त्र का मूलकार 'शब्द-नय' है। अगले दो नय भी शब्द-नय कहलाते हैं।

शब्द नित्य है, या अनित्य ? इस प्रश्न का उत्तर सप्त-भंगी के तीसरे भंग से अर्थात्—नित्यानित्य में दिया जा सकता है। वस्तुतः शब्द द्रव्य से नित्य है, और पर्याय से अनित्य है।

महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से आगम रूप में वर्णात्मक शब्द अनादि अनन्त है, किन्तु भरत क्षेत्र एवं ऐरावत क्षेत्र की अपेक्षा से सादि-सान्त है। यह नय शब्दों की गहराई में बहुत कुछ उतर जाता है। जैसे कोई आगम धर श्रुत ज्ञानी यदि उपयोग पूर्वक किसी आगम का स्वाध्याय कर रहे हों, तो उच्चारित किये जाने वाले शब्द को आगम मानता है, और उच्चारण करने वाले को आगम-धर श्रुत ज्ञानी मानता है। यदि उपयोग-पूर्वक उच्चारण नहीं कर रहे हों, तो उच्चार्यमाण शब्द को न आगम ही मानता है, और न उच्चारण करने वाले को आगम धर ही मानता है। यह

'शब्द नय' पुस्तक रूप जो आगम है, उन्हे आगम नही मानता, अपितु उपयोग-पूर्वक स्वाध्याय को ही आगम मानता है।

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—"कालादिभेदेन ध्वनेरथ-भेद प्रतिपद्यमान शब्द नय।"—१

अर्थात्—काल आदि के भेद से शब्दो मे अर्थ-भेद के प्रतिपादन करने वाले नय को 'शब्द-नय' कहते है।

शब्द के द्वारा अर्थ ग्रहण करने पर नय को शब्द-नय कहते हैं। जैसे—'कृतकत्वात्', यह पचम्यन्त शाब्दिक हेतु है, किन्तु आर्थिक हेतु तो अनित्यत्व-युक्त घट आदि पद-वाच्य हैं। वस्तुत हेतु तो मुख्यतया आर्थिक ही है, किन्तु उपचार से कृतकत्वात् यह पचम्यन्त पद भी हेतु कहलाता है, और यह नय भी शब्द पर ही निर्भर होने से 'शब्द-नय' कहलाता है। इस नय का साम्राज्य जाति-वाचक, गुण-वाचक और क्रिया वाचक शब्दो पर है, न कि व्यक्ति वाचक शब्दो पर। इसी कारण आदि के तीन निक्षेप—'शब्द-नय' को अमान्य हैं। समस्त वाड्मय की आधार शिला 'शब्द-नय' है, यह कथन असत्य नही है।

चतुर्थ छात्र

चौथे छात्र ने कहा—"शप्यते वा आहूयते वस्त्वनेनेति शब्द।"—२

१—प्रमाण-नय तत्त्वालोक।

२—नय-सार।

अर्थात्—जिसके द्वारा वस्तु-तत्त्व का आह्वान किया जाए, उसे 'शब्द' कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञानी जिस सूक्ष्म या अति-सूक्ष्म पदार्थ को अति दूरस्थ होते हुए भी बिना किसी निमित्त के हस्तामलक की तरह अपने ज्ञान से प्रत्यक्ष करते हैं, उसी को अस्मादृश अल्पज्ञ जीव 'शब्द' के द्वारा ही जान सकते हैं। किन्तु उस शब्द का शक्ति-ग्रह होना चाहिए। शब्द यथातथ्य अर्थ का बोधक होते हुए भी, आभ्यन्तरिक कारण श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होना भी आवश्यक है, तभी हम शब्द के द्वारा समस्त द्रव्यों को, तथा उनकी समस्त पर्यायों को जान सकेंगे। वास्तविक श्रुत तो श्रुत ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम ही है, किन्तु उपचार से शब्द को भी 'श्रुत' कहा जा सकता है। शब्द शास्त्र में शब्द-व्युत्पत्ति के चार प्रकार बतलाए हैं, जैसे—(क) यौगिक (ख) रूढ, (ग) योगरूढ, और (घ) यौगिकरूढ।

यौगिक—जो शब्द अवयव अर्थ का ही बोधक हो, वह 'यौगिक' कहलाता है यथा—पाचक, वाचक, पाठक आदि।

रूढ—जो शब्द अवयव शक्ति के बिना, समुदाय शक्ति मात्र से अर्थ का बोधक हो, वह 'रूढ' कहलाता है यथा—गोमण्डल। यहाँ 'गो' और 'मण्डल' का अवयव अर्थ छोडकर समुदाय शक्ति सूर्य के चारों ओर कुण्डलाकार परिधि में निहित है।

योग रूढ—जहाँ अवयव शक्ति के विषय में समुदाय

शक्ति भी अपना अस्तित्व अलग रखती हो, वह 'योग-रूढ' कहलाता है यथा—पकज। यह शब्द 'पक' मे उत्पन्न होने वाले कर्तृत्व रूप अर्थ का बोधक है। समुदाय शक्ति के साथ रूढ होने से पद्म का बोधक है, क्योंकि पक से तो कृमि आदि की उत्पत्ति भी होती है। किन्तु पकज पद्म के लिए ही रूढ है, अन्य के लिए नही। इसी प्रकार चन्द्रहास, जिसकी चमक चन्द्रमा की तरह हो, वह चन्द्रहास है। किन्तु यह शब्द खड्ग के लिए ही 'रूढ' है।

यौगिक रूढ—जहां अवयव अर्थ और रूढ अर्थ, दोनो का ही स्वतन्त्रता पूर्वक बोध हो सके, वह शब्द 'यौगिक रूढ' कहलाता है। जैसे—उद्भिद् (उद्भेदन-कर्त्ता) तरु-गुल्म आदि का बोधक है, और याग-विशेष का भी। 'ऊर्ध्वं भिनत्तीत्युद्भिद्', यहां अवयव शक्ति से तरु गुल्म आदि मे शक्ति निहित है, और समुदाय शक्ति से याग विशेष भी हो जाता है।

यदि किसी व्यक्ति-विशेष का नाम पवन है, तो कोशो मे वायु के जितने भी पर्याय-वाचक शब्द है, उनसे उस व्यक्ति विशेष को नही बुलाया जा सकता है, अर्थात्—वायु के समस्त वाचक उस पवन रूप व्यक्ति विशेष के नाम नही है। अत यह नय नाम निक्षेप को स्वीकार नही करता, और भाव के बिना स्थापना एव द्रव्य निक्षेप भी सर्वथा अमान्य है।

पचम छात्र

पाचवे छात्र ने कहा—"शब्दाद् व्याकरणात्प्रकृति-प्रत्ययद्वारेण सिद्ध शब्द।"

अर्थात्—'व्याकरण से प्रकृति प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न शब्द 'शब्द नय' कहलाता है।"

शब्द-शक्ति आठ प्रकार से जानी जा सकती है। जैसे—

(१) व्याकरण से—पूर्वकृदन्त, उणादि, उत्तर-कृदन्त, तद्धित, समास और निपातन, मयूरव्यंसक आदि आकृतिगण, और निरुक्त आदि से शब्दों की व्युत्पत्ति होती है। तिङ् प्रत्ययान्त से धातु क्रिया रूप में परिणत हो जाती है।

"द्वितीया कर्मणि यदा कर्तरि प्रथमा यदा।
उक्तकर्तृ प्रयोगोऽयं न तदा नाक प्रयुज्यते॥
तृतीया कर्तरि यदा कर्मणि प्रथमा तदा।
उक्त कर्म प्रयोगोऽयं न तदा परस्मैपदम्॥

इस प्रकार शब्द-शक्ति का विस्तृत परिचय व्याकरण से जाना जा सकता है।

(२) उपमान से— बाले य मंदा मूढे बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि।'

अर्थात्—धर्म कार्यों में आलस्य करने वाला, मोह ग्रस्त अज्ञानी जीव बलगम में मक्खी की तरह संसार में फँस जाता है।—१

"अह संति सुव्वया साहू जे तरंति अतरं वणिया व।"

अर्थात्—"जो निरति चार महाव्रतों के पालने वाले हैं, वे साधु ही विषय रूपी विशाल संसार समुद्र को पार करते

१—उत्तराध्ययन ८, ५,

है। जग—व्यापारी लोग जहाज आदि साधना के द्वारा दुस्तर और अथाह समुद्र को पार करते हैं।"—१

"रागाउरे स जह वा पयगे आलोयलोले समुवेइ मच्चु।"

जिस प्रकार पतंगिया (मरवाया) दीपक की लौ पर गिरकर अनुरागवश मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार जो दृष्ट-रूप में आसक्ति रखता है, वह भी अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।—२

"कुम्मो इव गुत्तिन्दिया, विहग इव विप्पमुक्का।"

अर्थात् – साधक कच्छप की तरह गुप्त इन्द्रिय होकर तथा पक्षी की तरह बंधन रहित होकर विचरे।

'गो-सरिसो गवय' गौ के सदृश गवय होता है।

इस प्रकार शब्द शक्ति उपमान के द्वारा जानी जा सकता है। कभी उपमान से उपमेय का ज्ञान होता है, और कभी उपमेय से उपमान का परिचय प्राप्त होता है।

(३) कोश से—अनेक शब्दों का एक अर्थ, और एक शब्द के अनेक अर्थ, तथा लिंग-भेद आदि शब्द शक्ति कोश से जानी जा सकती है।

(४) आप्त-वाक्य से—'माणुस्स खु सुदुल्लहं।' "विगिंच कम्मुणो हेउ जस संचिणु खंतिए। सरीरं पाढवं हिच्चा, उड्ढं पक्कमए दिसं" आदि परोक्ष तत्त्व वाचक आप्त-वाक्य ही है। आप्त का अर्थ—जिन, अरिहन्त, केवली है, उनका

१—उत्तराध्ययन ८ ६,
२—उत्तराध्ययन ३२ २४,

वाक्य आप्त-वाक्य कहलाता है, अर्थात्—आगम प्रमाण इसी वाक्य मे अन्तर्भूत है।

(५) व्यवहार से—शब्द शक्ति व्यवहार से भी जानी जा सकती है। पिता अपने बड़े लड़के से कहता है कि—घड़ा ले आ! लड़का ले आया। पास ही एक छोटे बच्चे ने भी वह शब्द सुना, और लाया हुआ घड़ा भी देखा, तब वह जान लेता है कि इस चीज को घड़ा कहते हैं। समीप लाना, यह क्रिया है। इन व्यावहारिक बातो और पदार्थों का ज्ञान नित्य प्रति व्यवहार में आए हुए शब्दों के ज्ञान से होजाता है।

(६) वाक्य शेष से—"पोल्लेव मुट्ठी जह से असारे, अयंतिय कूड-कहावणे वा। राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ हु जाणएसु।"—१

"जिस प्रकार खाली मुट्ठी और खोटा सिक्का असार है, उसी प्रकार गुण-हीन साधु भी असार है। जिस प्रकार काच मणि वैडूर्य मणि की तरह प्रकाशमान होती है, परन्तु जानकार पुरुषों के सामने निश्चय ही वह अल्प मूल्य वाली हो जाती है, उसी प्रकार द्रव्य लिंगी साधु भी विवेकी पुरुषों में सराहनीय नहीं बन सकता।"

इस गाथा के चौथे चरण से पूर्वोक्त तीन चरणों का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है, अन्यथा उनका आशय समझना अत्यन्त कठिन था।

१—उत्तराध्ययन, २०—४२,

है। जैसे—व्यापारी लोग जहाज आदि साधनों के द्वा
दुस्तर और अथाह समुद्र को पार करते है।"—१

"रागाउरे स जह वा पयगे आलोयलोले समुवेइ मच्चु।"

जिस प्रकार पतंगिया (मरवाया) दीपक की लौ प
गिरकर अनुरागवश मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रका
जो इष्ट-रूप में आसक्ति रखता है, वह भी अकाल में ह
विनाश को प्राप्त होता है।—२

'कुम्मो इव गुत्तिंदिया, विहग इव विप्पमुक्का।"

अर्थात्—साधक कच्छप की तरह गुप्त इन्द्रिय होक
तथा पक्षी की तरह बन्धन रहित होकर विचरे।

"गो सरिसो गवय", गो के सदृश गवय होता है।

इस प्रकार शब्द-शक्ति उपमान के द्वारा जानी ज
सकती है। कभी उपमान से उपमेय का ज्ञान होता है, औ
कभी उपमेय से उपमान का परिचय प्राप्त होता है।

(३) कोश से—अनेक शब्दों का एक अर्थ, और एव
शब्द के अनेक अर्थ, तथा लिंग-भेद आदि शब्द-शक्ति कोश स
जानी जा सकती है।

(४) आप्त-वाक्य से—'माणुस्सं खु सुदुल्लहं।' 'विमि
च कम्मुणा हेउं जस संचिणु खंतिए। सरीरं पाढवं हिच्चा
उड्ढं पक्कमए दिसं' आदि परोक्ष तत्त्व बोधक आप्त-वाक्य
ही है। आप्त का अर्थ—जिन, अरिहन्त, केवली है, उनक

१—उत्तराध्ययन ८ ६,
२—उत्तराध्ययन ३२ २४,

क्य आप्त-वाक्य कहलाता है, अर्थात्—आगम प्रमाण इसी क्य मे अन्तर्भूत है।

(५) व्यवहार से—शब्द शक्ति व्यवहार से भी जानी जा सकती है। पिता अपने बडे लडके से कहता है कि—डा ले आ! लडका ले आया। पास ही एक छोटे बच्चे ने वह शब्द सुना, और लाया हुआ घडा भी देखा, तब वह जान लेता है कि इस चीज को घडा कहते हैं। समीप लाना, यह क्रिया है। इन व्यावहारिक बातो और पदार्थों का ज्ञान प्रत्यप्रति व्यवहार मे आए हुए शब्दो के ज्ञान से होजाता है।

(६) वाक्य शेष से—"पोल्लेव मुट्ठी जह से असारे, अयंतिए कूड कहावणे वा। राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ हु जाणएसु।"—१

'जिस प्रकार खाली मुट्ठी और खोटा सिक्का असार है, उसी प्रकार गुण-हीन साधु भी असार है। जिस प्रकार काच मणि वैडूर्य-मणि की तरह प्रकाशमान होती है, परन्तु जानकार पुरुषो के सामने निश्चय ही वह अल्प मूल्य वाली हो जाती है उसी प्रकार द्रव्य लिंगी साधु भी विवेकी पुरुषो मे सराहनीय नही बन सकता।'

इस गाथा के चौथे चरण से पूर्वोक्त तीन चरणो का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है, अन्यथा उनका आशय समझना अत्यन्त कठिन था।

१—उत्तराध्ययन, २०—४२,

(७) **विवृत्ति से**—किसी व्याख्यान-दाता ने अपने व्याख्यान में कहा—आत्मोन्नति, आत्म-विकास, तथा आत्मोत्क्रान्ति करना ही मनुष्य का परम लक्ष्य है, अर्थात्—किसी शब्द का खुलासा करने के लिए अनेक पर्याय-वाचक शब्दों का प्रयोग करना—'विवृत्ति' कहलाता है।

(८) **सान्निध्य से**—सिद्धों की सन्निकटता से शिला का नाम भी सिद्ध-शिला पड़ गया है। सिद्ध-शिला का नाम ही सान्निध्य का द्योतक है।

इस प्रकार आठ कारणों से शब्द शक्ति का ग्रहण होता है। इनके बिना शब्द-नय का अनुशासन नहीं चल सकता। अस्तु, ये हैं—शब्द-नय के मूल-भूत कारण।

षष्ठ छात्र—

छठे छात्र ने कहा—"यथार्थाभिधान शब्द" (भाव-मानाभिधानप्रयोजकोऽध्यवसायविशेष), —१ अर्थात्—भाव-निक्षेप के अन्तर्गत अर्थ-कथन करना 'शब्द-नय' कहलाता है। शब्द नय का प्रयोजन है—शब्द के द्वारा यथार्थ अर्थ प्रकट करना। सत्य-भाषा और व्यवहार-भाषा, इन्हीं दो भाषाओं पर शब्द नय का पूरा अनुशासन है। शब्द-नय—जाति-वाचक, गुण-वाचक, द्रव्य-वाचक और क्रिया वाचक शब्दों को ही अपने काम में लाता है, व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं को नहीं। यह है—शब्द-नय का बाह्य उपकरण। आभ्यन्तरिक उपकरण है—श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से विशेष।

१—नय सार

शब्द प्रधान होने से इस नय को 'शब्द-नय' कहते हैं। पद ज्ञान शब्द-बोध का कारण है। पदार्थ ज्ञान करण है। व्यापारवान् असाधारण कारण को करण कहते हैं जैसे—दण्ड चक्र और चीवर, ये तीनों घट के प्रति असाधारण कारण हैं, किन्तु जब ये तीनों यथा समय यथा-क्रम क्रिया कर रहे हों, तब ये ही कारण, करण कहलाते हैं। पद-ज्ञान यदि कारण है, तो पदार्थ ज्ञान करण है। वाक्यार्थ ज्ञान को शाब्द-बोध कहते हैं। शाब्द बोध का लक्षण है—

"एकपदार्थेऽपर-पदार्थ-संसर्ग-विषयक ज्ञान शाब्दबोध" अर्थात्—शाब्द-बोध में चार मुख्य कारण हैं, जैसे—

(क) आसत्ति-ज्ञान, (ख) योग्यता ज्ञान, (ग) आकांक्षा-ज्ञान, और (घ) तात्पर्य ज्ञान।

आसत्ति-ज्ञान—इसका अर्थ है, पदों की सन्निकटता। जैसे—"भगवान् ने कल्याणकारिणी देशना दी"—यदि इन्हीं पदों में से एक-एक पद प्रहर प्रहर में उच्चारण करेंगे, तो शाब्द-बोध नहीं हो सकता।

योग्यता-ज्ञान—इसका अर्थ है—एक पदार्थ में अन्य पदार्थों का सम्बन्ध होना। जैसे—संवर-पूर्वक निर्जरा ही आत्म-प्रगति में सहायक है। इससे विपरीत यदि योग्यता का ज्ञान न हो तो—"निर्ग्रंथ रात्रि को आहार करता है," "श्रावक शिकार खेलता है', किसान अग्नि सींचता है', आदि वाक्य योग्यता ज्ञान विहीन हैं। अतः ये उपर्युक्त वाक्य शाब्द बोध में कारण नहीं हैं।

आकांक्षा ज्ञान—इसका अर्थ है कि—जिस पद के

बिना अर्थ स्मरण न हो सके, उस पद की आकांक्षा रहती है। जैसे—कारक पदों में क्रिया पद की आकांक्षा रहती है, और क्रिया-पद में कारक-पद की। एक पाठक किसी पुस्तक को पढ़ रहा है। ज्यों-ज्यों पढ़ता है, त्यों-त्यों एक पद से दूसरे पद की, फिर तीसरे पद की आकांक्षा होती है। कर्त्ता और कर्तृ-विशेषण, कर्म और कर्म विशेषण, करण और करण-विशेषण, क्रिया और क्रिया विशेषण आदि एक पद दूसरे पद की आकांक्षा बढ़ाता है। यदि एक पद थोड़ी देर के लिये ज्ञात न हो सके, तो बुद्धिमान पाठक उस पद की खोज के लिये व्याकुल हो जाता है। यही 'आकांक्षा-ज्ञान' का फल है। इसके विपरीत हाथी, घोड़ा, बैल आदि पद आकांक्षा-विहीन हैं।

तात्पर्य ज्ञान—इसका अर्थ है—बोलने वाले का अभिप्राय। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानकर प्रसंगानुसार अनेकार्थ वाचक शब्द का विवक्षित अर्थ करना। जैसे—प्रयोजक कर्त्ता ने कहा—'सैन्धव ले आओ'। तब प्रयोज्य कर्त्ता समयानुसार वक्ता के तात्पर्य का विचार करता है, कि यह रसोई का समय है, या सवारी का? सैन्धव नमक का वाचक तो अवश्य है, किन्तु साथ ही घोड़े का भी वाचक है। यदि तात्पर्य-ज्ञान शाब्द बोध में कारण न हो, तो रसोई के समय घोड़ा ले आए, और सवारी के समय नमक।

उपर्युक्त चारों साधन शुद्ध होने पर ही वस्तु-तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। यह 'शब्द नय' का मुख्य प्रयोजन है।

सप्तम छात्र—

सातवें छात्र ने कहा—"इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्णं णओ सद्दो"—१

अर्थात्—जो विचार शब्द-प्रधान होता हुआ, शाब्दिक धर्मों की ओर झुककर तदनुसार ही अर्थ भेद की कल्पना करता है, वही वस्तुतः शब्द-नय कहलाता है। यह नय ऋजु सूत्र से विशुद्धतर है। शब्द शक्ति तीन वृत्तियों में विभक्त है। जैसे—(क) अभिधा वृत्ति, (ख) लक्षणा वृत्ति, और (ग) व्यंजना वृत्ति।

वाक्यार्थ को जानने के लिए दो उपाय काम में लाए जाते हैं—मुख्य और अमुख्य। इनमें मुख्य शक्ति 'अभिधा' कहलाती है। जहाँ शब्द का सम्बन्ध सीधा अर्थ के साथ हो, वह अभिधा कहलाती है, अथवा सांकेतिक अर्थ बतलाने वाली शब्द शक्ति को अभिधा कहते हैं। संकेत—जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में ग्रहण किया जाता है, व्यक्ति में नहीं। क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं। द्रव्य से तात्पर्य संज्ञा विशेष से है। संज्ञा के दो भेद हैं—(क) चिरन्तनी, और (ख) तदभिन्ना। पर द्रव्यों के नाम अनादि होने से चिरन्तनी है। द्वितीय देवदत्त आदि एक एक व्यक्ति। 'देवा वि तं नमसंति जस्स धम्मे सया मणो'—२ यह वाक्य अभिधा शक्ति के अन्तर्भूत है। आगमों में अभिधा-वृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

१—अनुयोग द्वार,

२—दशवैकालिक १—१,

जिना अर्थ स्मरण न हो सके, उस पद की आकांक्षा रहती है। जैसे—कारक पदों में क्रिया पद की आकांक्षा रहती है, और क्रिया-पद में कारक-पद की। एक पाठक किसी पुस्तक को पढ़ रहा है। ज्यों-ज्यों पढ़ता है, त्यों-त्यों एक पद से दूसरे पद की, फिर तीसरे पद की आकांक्षा होती है। कर्त्ता और कर्तृ-विशेषण, कर्म और कर्म विशेषण, करण और करण-विशेषण, क्रिया और क्रिया विशेषण आदि एक पद दूसरे पद की आकांक्षा बढ़ाता है। यदि एक पद थोड़ी देर के लिये ज्ञात न हो सके, तो बुद्धिमान पाठक उस पद की खोज के लिये व्याकुल हो जाता है। यही 'आकांक्षा ज्ञान' का फल है। इसके विपरीत हाथी, घोड़ा, बैल आदि पद आकांक्षा विहीन हैं।

तात्पर्य ज्ञान—इसका अर्थ है—बोलने वाले का अभिप्राय। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानकर प्रसंगानुसार अनेकार्थ वाचक शब्द का विवक्षित अर्थ करना। जैसे—प्रयोजक कर्त्ता ने कहा—'सैन्धव ले आओ।' तब प्रयोज्य कर्त्ता समयानुसार वक्ता के तात्पर्य का विचार करता है, कि यह रसोई का समय है, या सवारी का? सैन्धव नमक का वाचक तो अवश्य है किन्तु साथ ही घोड़े का भी वाचक है। यदि तात्पर्य ज्ञान शाब्द बोध में कारण न हो, तो रसोई के समय घोड़ा ले आए, और सवारी के समय नमक।

उपयुक्त चारों साधन

सप्तम छात्र—

मानव छात्र ने कहा—"इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्णं णओ सद्दो"—१

अर्थात्—जो विचार शब्द प्रधान होता हुआ, शाब्दिक धर्मों की ओर झुककर तदनुसार ही अर्थ भेद की कल्पना करता है, वही वस्तुतः शब्द-नय कहलाता है। यह नय ऋजु सूत्र से विशुद्धतर है। शब्द शक्ति तीन वृत्तियों में विभक्त है। जैसे—(क) अभिधा वृत्ति (ख) लक्षणा वृत्ति, और (ग) व्यंजना वृत्ति।

वाक्यार्थ को जानने के लिए दो उपाय काम में लाए जाते हैं—मुख्य और अमुख्य। इनमें मुख्य शक्ति 'अभिधा' कहलाती है। जहाँ शब्द का सम्बन्ध सीधा अर्थ के साथ हो, वह अभिधा कहलाती है, अथवा सांकेतिक अर्थ बतलाने वाली शब्द शक्ति को अभिधा कहते हैं। संकेत—जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में ग्रहण किया जाता है, व्यक्ति में नहीं। क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं। द्रव्य से तात्पर्य संज्ञा विशेष से है। संज्ञा के दो भेद हैं—(क) चिरन्तनी, और (ख) तद्भिन्ना। पट-द्रव्यों के नाम अनादि होने से चिरन्तनी है। द्वितीय देवदत्त आदि एक एक व्यक्ति। 'देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो'—२ यह वाक्य अभिधा शक्ति के अन्तर्भूत है। आगमों में अभिधा-वृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

१—[illegible]

'दुम पत्तए पडुरए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एव मणुयाण जाविय समय गोयम ! मा पमायए ॥'—१

जहाँ मुख्यार्थ मे अन्वय या तात्पर्य की निष्पत्ति न हो सके, वहाँ अमुख्य व्यापार ग्रहण किया जाता है। इसी को 'लक्षणा वृत्ति' कहते है। जैसे—'गगाया घोष'—गगा मे कुटीर है। यहाँ गगा के मुख्य अर्थ की उपेक्षा करके—गगा के तट पर कुटीर है, यह अर्थ लक्षणा से निकलता है। और 'कलिग साहसिक'—कलिग साहसिक है। यहाँ लक्षणा से अर्थ निकलता है कि 'कलिग देशवासी साहसिक हैं'। 'वगा भीरु' अर्थात्—वग देश डरपोक है।

'द्वादशाग वाणी मोक्ष निश्रेणी है। यहाँ निश्रेणी का सीढी अर्थ न लेकर—'द्वादशाग-वाणी मे मोक्ष प्राप्त करने के अमोघ उपाय हैं'—यह अर्थ लक्षणा से निकलता है। और 'कुशान् दर्भान् लाति गृहणातीति कुशल', अर्थात्—'कुशग्राही को कुशल कहते है' इस अर्थ को न लेकर—'कुशग्राही की तरह चतुर, यह अर्थ लक्षणा से फलित होता है। व्यवहार मे भी ऐसा ही कहते हैं कि—'जरा रास्ते से बात कर'। इसका 'जरा सभ्यता से बात कर' यह अर्थ फलित होता है। और 'उसने मेरी नाक काट ली,' तथा 'ऐसा करने मे मेरी नाक रह सकती है।' यहाँ नाक का अर्थ लक्षणा से 'प्रतिष्ठा' का होता है। ब्राह्मी और सुन्दरी ध्यानस्थ बाहुबली को कहती है—
"वीरा म्हारा गज थकी उतरो, गज चढ्या केवल नहीं होसी रे।"

१—उत्तराध्ययन, १०-१,

यहां हाथी का अर्थ—लक्षणा से 'अभिमान' किया जाता है, अर्थात्—अभिमान से उतर कर विनय धारण करो।

केशीकुमार श्रमण ने गौतम स्वामी से प्रश्न पूछते हुए कहा—

'अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ।
जंसि गोयम! आरूढो, कहं तेण न हीरसि॥'—१

आप साहसिक भीम तथा दुष्ट घोडे पर सवार हो रहे हो, फिर वह आपको उन्मार्ग में क्यों नहीं ले जाता है?

यह प्रश्न लक्षणा में किया गया है। गौतम स्वामी ने उत्तर भी लक्षणा से ही दिया है।" जैसे—

"पधावन्तं निगिण्हामि, सुयरस्सी-समाहियं।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जइ॥"—२

मैं दुष्ट घोडे को लगाम के द्वारा रोके रखता हूं, अतः वह उन्मार्ग पर न जाकर मार्ग पर ही रहता है।

अब प्रश्न पैदा होता है—क्या गणधर भी घोडे की सवारी किया करते हैं? यहां अश्व-रूप मुख्य अर्थ न ग्रहण करके लक्षणा से दुष्ट अश्व सदृश मन लिया है, जिसको श्रुत ज्ञान-रूपी लगाम से वश में कर रखा है। इसलिए वह उन्मार्ग में नहीं ले जाता है, यही अर्थ स्पष्ट होता है।

१—उत्तराध्ययन, २३-५५,
२—उत्तराध्ययन, २३-५६,

इसी प्रकार उन दोना हा धम-धुरन्धर महामुनियो के बीच मे लक्षणा वृत्ति से ही प्रश्नोत्तर हुए।

"वतामी पुरिसो राय, न सो होइ पसंसिओ।"
"वत नो पडियायइ जे स भिक्खू।"

जो वमन को ग्रहण नही करता है, वह भिक्षु है। अति बुभुक्षित मनुष्य भी जब वमन को ग्रहण नही करता, तब दूसरा की तो बात ही क्या ?

यहाँ वा त का अथ लक्षणा मे त्यक्त वस्तु है। अत अब यह अर्थ निकलता है कि—त्यक्त वस्तु का पुन सेवन करना ही वान्त-ग्रहण करना है। इस प्रकार सूत्रो म लक्षणा के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं।

व्यजना-वृत्ति दो प्रकार की होती ह—(क) अभिधा-मूलक, और (ख) लक्षणा-मूलक।

(क) अभिधा-मूलक व्यजना के उदाहरण—

(१) सयोग से—'सकेशरो हरि' 'सवज्रो हरि', 'सशखचक्रो हरि।' यहाँ 'हरि' शब्द के अनेक अथ होते हुए भी केशर के सयोग मे 'हरि' की सिंह मे व्यजना की गई है। इसी प्रकार वज्र के सयोग से इन्द्र में, और शख-चक्र के सयोग से वासुदेव मे समझनी चाहिए।

(२) विप्र-योग से—'अकेशरो हरि', 'अवज्रो हरि', 'अशखचक्रो हरि'। इसमे भी उन्ही पूर्वोक्त व्यक्तियो म व्यजना समझनी चाहिए, अन्य म नही। क्योकि 'यह सिंह केशर से रहित है'—यह अथ निकलता है।

(३) साहचर्य से—'भीमार्जुनौ' पद में 'भीम' और 'अर्जुन' के अनेक अर्थ होते हुए भी एक दूसरे के साहचर्य से कुन्ती के पुत्र ही लिए जाएंगे।

(४) विरोधिता — कर्णार्जुनौ, में कर्ण' और अर्जुन' के अनेक अर्थ होते हुए भी विरोध के कारण महाभारत के पात्र-विशेष में ही व्यंजना की गई है।

(५) अर्थ से—'जिनं वन्दे भवच्छिदं'। यहां 'जिन' शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी भवच्छिदं' इस पद से 'जिनेश्वर में ही व्यंजना रहती है।

(६) प्रकरण से—'सर्व जानाति देव!' एक राजपुरुष राजा के सम्मुख कह रहा है कि—देव सब कुछ जानते हैं।' यहां 'देव' का अर्थ व्यंजना से 'आप' समझा जाएगा।

(७) लिंग (चिन्ह)— कुपितो मकर-ध्वज।' 'मकरध्वज समुद्र का वाचक भी है, किन्तु यह अर्थ अभिमत नहीं है। यहां मकर-ध्वज, व्यंजना से कामदेव का वाचक है। 'मकर की ध्वजा' कामदेव का चिन्ह है। चिन्ह भी जाति और व्यक्ति में विशेषता पैदा कर देता है।

(८) सन्निधि से—जैसे—निग्रन्थ धर्म'। धर्म के अनेक अर्थ होते हुए भी निग्रन्थ' शब्द के सम्बन्ध से यहां 'जैन धर्म' ही अभिप्रेत है।

(९) सामर्थ्य से—'मधुना मत्तः पिकः।' यहां वसन्त

क सम्पर्क स 'पिक' का अर्थ कोकिल लिया जाता है।

(१०) देश से— विराजितो गगने विधु ।' यहाँ गगन रूप देश से, विधु का अर्थ शशांक लिया जाता है। इसका दूसरा अर्थ नही लिया जायगा।

(११) काल से—'निशि चित्र-भानु ।' यहाँ चित्र-भानु की व्यजना रात्रिरूप काल के सम्बन्ध से अग्नि मे ही की गई है, अन्य सूर्य आदि म नही।

(१२) व्यक्ति से—'मित्रो भाति' यहाँ मित्र का अर्थ सूर्य लिया जाता है, क्योकि यहाँ मित्र शब्द पुल्लिग है। अत-'मित्र' की व्यजना सूर्य म है, सखा मे नही है।

(ख) लक्षणा-मूलक व्यजना के उदाहरण—

(१) गगाया घोप—गगा के तट पर कुटीर है—यह अर्थ लक्षणा से निकलता है, किन्तु 'शीतलत्व' और 'पावनत्व' आदि विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति व्यजना से ही होती है।

(२) इगाल दोप—इस दोप पर निम्नलिखित तीन वृत्तियो से विचार किया गया है—

(क) अभिधा वृत्ति—अगार का रूप प्राकृत भापा म 'इङ्गाल' बनता है, जिसका अर्थ होता है—जलता हुआ कोयला। उपलक्षण मे बुझे हुए कोयले का भी 'इङ्गाल' कहते हैं।

(ख) लक्षणा वृत्ति—मनोज्ञ आहार-पानी को प्राप्त करके उसमे लुब्ध होना, आसक्त होना, लोलुपता तथा मूर्च्छा भाव रखना, तथा आहार पानी करते हुए मनोज्ञ भोजन-पानी बनाने वाले की प्रशंसा करना, जैन परिभाषा के अनुसार यह सब कुछ साधक के लिए उचित नही है, क्योकि उक्त क्रिया करता हुआ, वह इङ्गाल दोष का सेवन करता है। भोजन बनाने वाले की सराहना और आसक्ति-पूर्वक आहार-पानी करने से सावद्य क्रिया की अनुमोदना होती है। जिन जिन अंगो का वह आहार पानी बना हुआ है, उनके जीवन का वह व्याघातक बनता है। जब हृदय मे स्वार्थ-वृत्ति जग उठती है, तब इन्द्रियो की लोलुपता से प्रमाद की वृद्धि होती है और प्रमाद से सयम-कला कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की तरह प्रतिदिन क्षीण होती जाता है। इसलिए आसक्तिपूर्वक आहार पानी करने वाला साधक 'इङ्गाल-दोष' का सेवन करने वाला है। यह अर्थ लक्षणा से जाना जाता है।

(ग) व्यजना वृत्ति—जैसे जलता हुआ कोयला दूसरो को जला देता है और बुझा हुआ कोयला दूसरो को काला बना देता है, जैसे साधारण काष्ठ और बावन शीप-चन्दन दोनो के मूल्यो मे बहुत अन्तर है, परन्तु जब उन दोनो को जलाकर कोयला बना दिया जाता है तो उक्त दोनो के कोयले एक ही भाव से बिकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अङ्गार मे दाहकत्व एवं कालापन, और चन्दन की

अपेक्षा चन्दन के उन कोयले मे ससतापन आदि व्यङ्गयार्थ का ज्ञान भी व्यजना से ही जाना जाता है।

मूल इङ्गाल दोष मे भी दाहकत्व विद्यमान है। वह सयम और आत्म-गुणो को जलाकर भस्म कर देता है। जिस प्रकार बुझे हुए कोयले मे कालापन होता है, वैसे ही इङ्गाल-दोष भी स्वय काला है जो कि उज्ज्वल सयम को भी कलकित करता है। जैसे बावन-शीर्ष-चन्दन का मूल्य अधिक होता है, और उसका कोयला बहुत सस्ता, वैसे ही सयम रूपी बावन शीर्ष चन्दन को जलाकर इन्द्रिय-सुख रूपी कोयला बनाना है यह अल्प मूल्य व्यङ्गयार्थ है।

साराश मे इगाल दोष का यह अर्थ व्यजना शक्ति से अभिव्यञ्जित होता है।—१

(३) धूम दोष—इस दोष पर निम्नलिखित तीन वृत्तियो से विचार किया गया है—

(क) अभिधावृत्ति—'धूम' का अर्थ धुआँ है। "यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति"—इस व्याप्ति वाक्य से यह जाना जाता है कि अग्नि के बिना धुआँ नही हो सकता। धुएँ से अग्नि का होना नियमेन सिद्ध होता है। फिर चाहे धुआँ किसी रग का हो अथवा कैसे ही स्वभाव का हो, पर अन्तत वह धुआँ ही कहलाता है। उस धुआँ से

१—'जे ण निग्गथे वा निग्गथी वा फासुअ एसणिज्ज असण पाण खाइम साइम पडिग्गाहेत्ता मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे आहार आहारेइ, एस ण गोयमा ' सइगाले पाणभोयणे।"

—भगवती सूत्र, शतक,७ उद्देश १,

भवन काला हो जाता है। अत वह एक प्रकार का धूम दोष है।

(ख) लक्षणा वृत्ति—जैन-परिभाषा के अनुसार 'खाद्य' और पेय पदार्थ पर, या उस पदार्थ के बनाने वाले व्यक्ति पर जो साधक द्वेष तथा रोष करता है, अथवा घृणा और निन्दा करता हुआ आहार करता है, तो उससे साधक की आत्मा मलिन पड जाती है। अत उस अवस्था विशेष को भी 'धूम-दोष' कहते हैं।

(ग) व्यजना वृत्ति—धूम से आँखे पीडित हो जाती हैं, आँसू आने लग जाते हैं, श्वास रुकने लग जाता है, और चेहरा भी म्लान हो जाता है। इस प्रकार आँखो मे बहुत पीडा हो जाती है, और कुछ देर के लिए दीखना भी बन्द हो जाता है। कभी-कभी धुआँ के प्रकोप मे त्रस प्राणी मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते है। इस सम्बन्ध मे समवायाङ्ग सूत्र मे भी कहा है कि— 'यदि कोई त्रस प्राणी को धूम से मारे तो वह महामोहनीय कर्म बन्ध करता है।' अत यह सिद्ध होता है कि 'धूम'—मलिनत्व, पीडा आदि अनेक दोषो से युक्त है। इसी प्रकार 'धूम-दोष' भी ज्ञानात्मा दर्शनात्मा, उपयोगात्मा तथा चारित्रात्मा को मलिन करने वाला है।

अर्थात्—'धूम दोष' मे घातक कर्मों का तीव्र अनुभागबंध होता है, और उन कर्मों की दीर्घ स्थिति को बाधता है, इस दृष्टि से 'धूम दोष' भी मलिनत्व तथा पीडा

आदि दोषो से युक्त है। इसलिए इन दोषो का भी 'धूम दोष' से अन्तर्गत समझना चाहिए।—१

(४) **जैन**—इस पर निम्नलिखित तीन वृत्तियो से विचार किया गया है—

(क) **अभिधा वृत्ति**—'जैन' का अर्थ होता है, 'विजयी के पद चिन्हो पर चलने वाला' अथवा 'विजयी को जो अपना इष्ट देव माने, वह 'जैन'।

(ख) **लक्षणा वृत्ति**—'जो अवधि-ज्ञानी, मन पर्यव-ज्ञानी, और केवल-ज्ञानी जिन हैं, उन्हे जो अपना इष्ट देव माने, वह 'जैन।'

(ग) **व्यंजना वृत्ति**—'जो लक्षण, निक्षेप, नय, स्याद्वाद आदि से वस्तु तत्त्व को जानता है, बन्ध तथा बन्ध के कारणो को जानकर त्यागता है, और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष को उपादेय समझकर ग्रहण करता है, वास्तव मे वही 'जैन' कहलाने योग्य है।

(५) **निर्ग्रन्थ**—इस पर निम्नलिखित तीन वृत्तियो से विचार किया गया है—

(क) **अभिधा वृत्ति**—'निर्ग्रन्थ' का अर्थ है—'निर्गता अर्थात् आभ्यन्तरबाह्यपरिग्रहाद् यः स निर्ग्रन्थ'—यह जैन

१—"जे णं निग्गंथे वा निग्गन्थी वा फासुएसणिज्जं असण पाणं खाइमं साइमं पडिग्गाहित्ता महया अप्पत्तियं कोहकिलामं करेमाणे आहारं आहारेइ, एस णं गोयमा सधूमे पाणभोयणे।"

—भगवती सूत्र, शतक ७, उद्देश्य १,

श्रमण के लिए रूढ है।

(ख) लक्षणा वृत्ति—इसका प्रयोग 'आगम' व्यवहारी श्रमण के लिए किया जाता है, शेष व्यवहारियों के लिए नहीं।

(ग) व्यंजना वृत्ति—ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान-स्थित आत्मा को निर्ग्रन्थ कहते हैं, दूसरों को नहीं।

अध्यापक—

सभी छात्रों की व्याख्या को सुनने के बाद अध्यापक ने अपना विचार प्रस्तुत किया—यद्यपि आप सब ने शब्द-नय की व्याख्या यथाशक्य बहुत कुछ युक्ति-युक्त की है, तथापि जो आवश्यक कथन शेष है, उसी को स्पष्ट करने के लिए मुझे कुछ कहना है। दत्त चित्त होकर सुनिए।

बहुत से लोग लोक प्रचलित शब्दों के अर्थ पुस्तकों या शब्द-कोशों में ढूँढते हैं, किन्तु उन्हें यह विचारना चाहिए, कि पुस्तकों या शब्द कोशों में अर्थ कहाँ है? पुस्तक या कोशों में तो केवल पर्याय शब्द रहता है—अर्थ नहीं। अर्थ तो सृष्टि में रहता है। सूत्रों के अक्षर पोथी में मिल जाते हैं, किन्तु अर्थ को जीवन में ही खोजना चाहिए।

वस्तुतः 'शब्द' बोधक है, और 'अर्थ' बोध्य। 'शब्द' वाचक है, और 'अर्थ' वाच्य। अर्थ बतलाने का मुख्य साधन 'शब्द' है।

शब्द ज्ञान में निमित्त कारण है 'स्मृति'। इसी प्रकार स्मृति का निमित्त कारण है 'तदावरण क्षयोपशम'। और

(ङ) 'धम से भ्रष्ट होकर जीव दुगति को प्राप्त करता है।' यहाँ धम, 'अपादान' है।

(च) 'स्वधम म निधन भी श्रेष्ठ है, कामदेव श्रमणोपासक पर दारुण उपसग होन पर भी वह 'स्वधर्म' म दृढ रहा।' यहाँ स्वधर्म 'अधिकरण' है।

उपयु क्त वाक्यो मे कारक-भेद होने से 'धर्म' शब्द के अर्थों में भी भेद हो गया है। यहाँ सवत्र कारक-भेद मे अथ-भेद परिलक्षित है।

(३) लिग-भेद—लिग तीन प्रकार के होते हैं, जैसे—(क) पु लिग, (ख) स्त्री लिंग, और (ग) नपु सक लिग। तदनुरूप शब्द भी तीनो लिगो के अन्तगत है।

शब्द-नय, पुल्लिग से जो वाच्याथ का बोध होता है, उसे स्त्री-लिग से नही मानता। जैसे 'देव' से देवी का बोध नही होता। नपु सक लिग मे जो वाच्याथ का बोध होता है, उसे पुल्लिग से नही मानता, जैसे—'आम्र' कहने मे फल का बोध होता है, वृक्ष का नही। पुल्लिग से वाच्याथ के बोध को, नपु सक लिग से नही मानता, जैसे—'मित्र कहने से सूय का बोध होता है—सुहृद् का नही। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी स्वय समझ लेना।

शब्द-नय मानता है कि कतिपय शब्द त्रिलिगी भी होते हैं, किन्तु उनका अथ भिन भिन है। जसे—'कमल यह मृग का वाचक है, 'कमला' यह लक्ष्मी का वाचक है, 'कमल यह फल का वाचक है, एव 'अमृत, अमृता, अमृतम्'—

इनका अर्थ क्रमश —देव, आमलकी, एव पीयूष आदि है। 'सम, समा, समम्'—इनका अर्थ भी क्रमश —तुल्य, वर्ष, एव सर्व मे ग्रहण किया जाता है। 'शिव' ग्रह विशेष का वाचक है, 'शिव' भद्र एव कल्याण का वाचक है, 'शिवा' गोदडी का वाचक है। 'विश्वभर' इन्द्र का पर्याय वाचक है, तो 'विश्वभरा' पृथ्वी का। 'मित्र' सूर्य का पर्याय वाचक है, तो 'मित्र' सुहृद् का। 'मधु' वसन्त का पर्याय वाचक है, तो 'मधु' शहद का। 'पीलु' वृक्ष-विशेष का नाम है, तो 'पीलु' उसके फल का। 'नभा' श्रावण मास का वाचक है, तो 'नभ गगन का। 'वसुदेव' अग्नि का वाचक है, तो वसु' धन व रत्न का। 'कारण' हेतु एव उपादान का वाचक है, तो 'कारणा' तीव्र वेदना का। इसी प्रकार नपु सक लिंगी 'सुमन'—श्रेष्ठ मन का वाचक है। 'सुमनस्' पुल्लिगी है, जोकि देव-पद का वाचक है। 'सुमनस्' स्त्री लिंगी है, अत वह पुष्प का वाचक है। सस्कृत भाषा मे बहुत-से ऐसे शब्द हैं, जिनका वाच्यार्थ एक है, किन्तु वाचक शब्द त्रिलिंगी है। जैसे कि—

"आकाश, द्यौ, नभ। कर्ण, श्रुति श्रोत्रम्। स्वर्ग, द्यौ, त्रिविष्टपम्। दारा भार्या, कलत्रम्। तट, तटी, तटम्। कपट, निकृति, शाठ्यम्। अनादर, तिरस्क्रिया, अवहेलनम्।"

इस प्रकार 'शब्द-नय' लिंग-भेद से वाच्यार्थ का भेद मानता है। चाहे एकार्थ वाचक एक-लिंगी सख्या मे कितने ही हो, शब्द-नय उनमे भेद नही मानता, जब कि 'ऋजुसूत्र नय'

एक अर्थ के वाचक चाहे त्रिलिंगी हों, उनमें भेद मानता है।

(४) संख्या-भेद—शब्द-नय संख्या-भेद से वाच्यार्थ में भेद मानता है, जैसे— पुष्पम् का अर्थ है—एक फूल। 'पुष्पे' का अर्थ है—दो फूल, तथा 'पुष्पाणि' का अर्थ है—बहुत से फूल।

इसी प्रकार 'सुमनस' स्त्री-लिंगी नित्य बहु-वचनान्त है, जिसका प्रयोग अनेक फूलों के लिए किया जाता है, एक या दो फूलों के लिए नहीं।

एक स्त्री को दारा नहीं कहा जाता। यह शब्द पुलिंग है, जोकि नित्य बहु-वचनान्त है। बहुत सी स्त्रियों के लिए ही इनका प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार 'आप' यह शब्द स्त्री-लिंगी है, जोकि नित्य ही बहु-वचनान्त है, यह जल का वाचक है। जल के एक कण के लिए 'आप' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। 'श्रावक, श्रावकौ, और श्रावका'—इन तीनों का वाच्यार्थ संख्या-भेद से भिन्न-भिन्न है।

(५) पुरुष भेद—शब्द-नय पुरुष भेद से वाच्यार्थ भेद मानता है, जैसे—प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, और उत्तम पुरुष। 'ग्रामं गच्छति, ग्रामं गच्छसि, ग्रामं गच्छामि'—इन तीनों में पुरुष भेद होने से वाच्यार्थ में भेद हो जाता है, अथवा—

एहि, मन्ये, रथेन यास्यसि, नहि यास्यति, यातस्ते पिता', अथवा—

एहि, मन्ये ओदन भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः।'
"प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च।"

उपर्युक्त सूत्रों से जो पुरुष-व्यवस्था है, वह प्रहास में ही समझना। यथार्थ कथन में तो 'एहि त्वं मन्यसे, ओदन महं भोक्ष्ये, भुक्तः सोऽतिथिभिरिति" आदि उदाहरण स्वयं समझ लेना।

(६) उपसर्ग-भेद—शब्द-नय उपसर्ग भेद से भी वाच्यार्थ में भेद मानता है। जैसे—

"अनुगच्छति, अवगच्छति, संगच्छते, निगच्छति, आगच्छति, उद्गच्छति—ये सब 'गम्' धातु के रूप हैं। 'हृञ् हरणे' धातु के 'घञ्' प्रत्यय से बने हुए शब्द, जैसे—प्रहार, उपहार, संहार, विहार, निहार, परिहार, आहार अपहार व्यवहार आदि। 'स्था' धातु से 'प्रस्थान, अनुष्ठान, संस्थान, उत्थान, अवस्थान, उपस्थान—इन सब के अर्थ भिन्न भिन्न हैं। 'डुकृञ् करणे' धातु से 'उपकार, अपकार, संस्कार, विकार, प्रकार, दुष्कर, दुष्कृत, आकार आदि।

उपसर्ग भेद से अर्थ में भेद हो जाता है। यह नय नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप को नहीं मानता है, क्योंकि इनसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थ क्रियाकारी होने से भाव निक्षेप ही वस्तु है। अन्य सब निक्षेप इसके लिए अवस्तु हैं। 'पृथु-बुध्न-उदर आकारादि से कलित' जल आहरण आदि क्रियाकारी घट रूप को ही भाव घट

मानता है, शेष नाम आदि घट इस नय को स्वीकार नही, क्याकि यह नय शब्द-प्रधान है और चेप्टा लक्षण ही 'घट' शब्द का अथ है ।

नाम, स्थापना और द्रव्य-रूप घट नही है, यह प्रतिज्ञा है । जल आहरण आदि जो उसके कार्य हैं, वे काय उनसे नही हो सकत, यह हेतु है। पट आदि की तरह, यह दृष्टान्त है। भाव के सिवाय नाम आदि निक्षेप 'रूप घट, प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' दोनो से असिद्ध है।

ऋजुसूत्र-नय को सम्बोधित करके शब्द-नय कहता है—'जो कुम्भ नष्ट हो चुका है और जो अभी तक बना ही नही, वह घट जब कि तुम्हे अभीप्ट नही है, क्योकि उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, तब नाम आदि घट को तुम ने कसे घट-रूप म मान लिया, क्योकि प्रयोजनाभाव दोना मे समान ही है। यह है 'शब्द-नय' की सक्षेप मे रूप-रेखा ।

समभिरूढ-नय

"पर्याय-शब्देषु निरुक्ति - भेदेन,
भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढ ।"
— प्रमाण-नय तत्त्वालोक, ७—३६

पर्यायशब्द भेदेन,   भिन्नार्थस्याधिरोहणात् ।
नय समभिरूढ स्यात्, पूर्ववच्चास्य निश्चय. ॥

— श्लोक वार्तिक

"जहाँ शब्द का भेद है, वहाँ अर्थ का भेद अवश्य है। यह कहने वाला 'समभिरूढ-नय' है। 'शब्द-नय' तो अर्थ-भेद वही कहता है, जहाँ लिंग आदि का भेद होता है, परन्तु इस नय की दृष्टि मे तो प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न ही होता है।"

: १२ :

समभिरूढ-नय

शब्द नय की व्याख्या समाप्त होने के पश्चात् अध्यापक ने समभिरूढ-नय की व्याख्या करने के लिए छात्रों को आज्ञा प्रदान की। आज्ञा पाते ही सातों छात्रों ने समभिरूढ-नय की व्याख्या इस प्रकार की—

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा—

"जं जं सण्णं भासइ, तं तं चिय समभिरोहए जम्हा।
सण्णान्तरत्थविमुहो तओ तओ समभिरूढो त्ति॥"—१

अर्थात्—शब्द-नय ने जहाँ एकार्थ वाची घट, कुट, कलश, कुम्भ आदि अनेक शब्द स्वीकार किये हैं, वहाँ समभिरूढ-नय की मान्यता है कि—जो जिस वाच्य का वाचक है, उसका पर्यायवाची वाचक समस्त वाङ्मय में नहीं मिलेगा। जैसे—'घट' जिस वाच्य का वाचक है, उसके 'कलश, कुम्भ, आदि अन्य पर्यायवाची वाचक नहीं हो सकते।

१—विशेषावश्यक भाष्य।

भिन्न-भिन्न शब्दों के अर्थ भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं, एक नहीं। जैसे--'घटनात् घट' इति। विशिष्ट चेष्टावान् वाच्यार्थ को 'घट' कहते हैं।

"कुट कौटिल्ये, कुटनात् कौटिल्ययोगात् कुटः"

—यह व्युत्पत्ति 'कुट' शब्द की है।

"उभ-उभ पूरणे कुम्भनात् कुत्सितपूरणात् कुम्भ"—यह व्युत्पत्ति कुम्भ शब्द की है। इस प्रकार घट, कुट, और कुम्भ इन तीनों में शब्द-भेद की तरह अर्थ-भेद भी है। एक अर्थ में अनेक शब्दों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

शब्द-नय को इङ्गित करते हुए समभिरूढ-नय कहता है, कि जब आपने यह मान लिया कि—लिंग-भेद, कारक-भेद और वचन-भेद से अर्थ-भेद होता है, तब ध्वनि-भेद होने से---घट, कुट और कुम्भ आदि शब्दों के अर्थ-भेद आपको क्या अमान्य है? जब कि ध्वनि-भेद में यहाँ भी समानता ही है। अतः हमारे मार्ग का अनुकरण आप को भी बिना किसी संकोच तथा बिना तर्क-वितर्क के कर लेना चाहिए।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"एक-संज्ञा समभिरोहणात् समभिरूढ,"—१

विरुद्ध लिंग आदि योग से जैसे वस्तु में भिन्नता आ जाती है, वैसे ही संज्ञा-भेद से भी आती है। संज्ञा-भेद तो संकेत कर्त्ताओं के द्वारा प्रयोजन-वश ही किया जाता है, व

१—सन्मति तर्क टीका।

कि विना प्रयोजन के, अन्यथा अनवस्था दोष का प्रसग आ जाएगा। जिस प्रकार वस्तु के सज्ञा-वाचक शब्द हैं, उसी प्रकार ही उनके अर्थ भी हैं। अत एक अर्थ के अनेक सज्ञा-वाचक नही हो सकते। शब्द-नय की यह मान्यता है कि—'पर्यायवाचक एक लिंगी शब्द भिन्न होते हुए भी एक अर्थ के द्योतक हैं', यथा—'अमरा', 'निजरा,' 'देवा', आदि का एक देव अर्थ है।

समभिरूढ-नय का अभिमत है कि—'अमरा,' 'निजरा' और 'देवा', इन तीनो का अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं—एक नही।

'न म्रियन्तेऽपर्याप्त-काले ये तेऽमरा.', अथवा—**'न म्रियन्ते हननादपि ये तेऽमरा'**—जिनको मृत्यु अपर्याप्त काल मे नही हो सकती, अथवा जो शस्त्र अस्त्र आदि से भी नही मरते, अपनी स्थिति पूर्ण होने से पहले जो नही मरते, उन्हे 'अमर' कहते हैं।

'निर्जरा निर्गता जराया ये ते निर्जरा'—

जो बुढापे के जाल से निकल गए, अथवा जिनके जीवन मे व्यावहारिक दृष्टि से सदैव यौवन बना रहता हो, वे निजरा-वाचक के वाच्यार्थ हैं।

'दीव्यन्तीति देवा,'—'दिवु' धातु—क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, तथा गति, इन अर्थों मे है। अत इन लक्षणो से जो युक्त हैं, वे देव कहलाते हैं।

साराश यह निकला कि—अमरा', निजरा, और देवा,

कि बिना प्रयोजन के,' अन्यथा अनवस्था दोष का प्रसंग आ जाएगा। जिस प्रकार वस्तु के संज्ञा वाचक शब्द हैं, उसी प्रकार ही उनके अर्थ भी हैं। अतः एक अर्थ के अनेक संज्ञा-वाचक नहीं हो सकते। शब्द-नय की यह मान्यता है कि—'पर्यायवाचक एक लिंगी शब्द भिन्न होते हुए भी एक अर्थ के द्योतक हैं', यथा—'अमरा', 'निर्जरा,' 'देवा', आदि का एक देव अर्थ है।

समभिरूढ-नय का अभिमत है कि—'अमरा,' 'निर्जरा' और 'देवा', इन तीनों का अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं—एक नहीं।

'न म्रियन्तेऽपर्याप्त-काले ये तेऽमरा.', अथवा—**'न म्रियन्ते हननादपि ये तेऽमरा'**—जिनकी मृत्यु अपर्याप्त काल में नहीं हो सकती, अथवा जो शस्त्र अस्त्र आदि से भी नहीं मरते, अपनी स्थिति पूर्ण होने से पहले जो नहीं मरते, उन्हें 'अमर' कहते हैं।

'निर्जरा निर्गता जराया ये ते निर्जरा'—

जो बुढ़ापे के जाल से निकल गए, अथवा जिनके जीवन में व्यावहारिक दृष्टि से सदैव यौवन बना रहता हो, वे निर्जरा-वाचक के वाच्यार्थ हैं।

'दीव्यन्तीति देवा.,'—'दिवु' धातु—क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, तथा गति इन अर्थों में है। अतः इन लक्षणों से जो युक्त हैं, वे देव कहलाते हैं।

सारांश यह निकला कि—अमरा, निर्जरा, और देवा,

किया है। यह नय कहता है कि—केवल काल आदि के भेद से अर्थ-भेद मानना ही पर्याप्त नही है, अपितु व्युत्पत्ति-मूलक शब्द भेद से भी अर्थ-भेद मानना चाहिए।

प्रश्न—वाच्य कितने हैं ? और वाचक कितने ?

उत्तर—वाच्य अनन्तानन्त हैं, और वाचक केवल सख्यात ही हैं, असख्यात व अनन्त नही।

विश्व की जितनी भी भाषाएँ है, उन सभी के समस्त शब्दो को यदि कल्पना से एकत्र किया जाए, तो भी शब्द-समूह समुद्र की तरह सख्यात की वेला को अतिक्रम नही कर सकता।

प्रश्न—अब यह नया प्रश्न पैदा हो सकता है कि क्या श्रुत-ज्ञान से अनन्त पर्याय जानी जा सकती हैं ? यदि श्रुत ज्ञान का विषय अनन्त है, तो फिर सख्यात शब्दो से अनन्त अर्थों का बोध कैसे हो सकता है ?

उत्तर—श्रुत-ज्ञान दो प्रकार का है—(क) अभिलाप्य, और (ख) अनभिलाप्य। जो 'अभिलाप्य' है, उसका ज्ञान शब्द के द्वारा हो सकता है। तथा जो 'अनभिलाप्य' है, उसका नही। अभिलाप्य से अनभिलाप्य श्रुत ज्ञान अनन्त गुण है। 'समवायाग' तथा 'नन्दी' सूत्र मे एक पाठ आता है—"दिट्ठिवायस्स सखेज्जा अक्खरा अणता गमा, अणता पज्जवा", दृष्टिवाद मे श्रुत ज्ञान का आमूल-चूल वर्णन आता है, जबकि उसमे भी 'सखेज्जा अक्खरा अणता गमा' बतलाया है, तब अन्य शास्त्र-ग्रन्थ तो उसके आगे नगण्य से है।

प्रश्न—अब रहा यह प्रश्न कि—सख्यात अक्षरों से अनन्त अर्थों का ज्ञान कैसे हो सकता है ?

उत्तर—जैसे लोकाकाश असख्यात प्रदेशात्मक है। फिर भी उनमें अनन्त द्रव्य समाए हुए हैं, वैसे ही सख्यात शब्दों में भी अनन्त अर्थ समाए हुए हैं। यह बात आगम प्रमाण से प्रमाणित होने से सर्वथा ग्राह्य है।

पचम छात्र

पाँचवे छात्र ने कहा—'असक्रमणगवेषणापरोऽध्यवसाय विशेष समभिरूढ़ ।'—१

अर्थात्—जो विचार, शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ-भेद की कल्पना करता है, वह 'समभिरूढ़-नय' कहलाता है।

'शब्द-नय' यदि लिंग आदि के भेद से अर्थ भेद को स्वीकार करता है, तो सज्ञा भेद से भी अर्थ भेद को स्वीकार क्यों नहीं करता ? 'समभिरूढ़-नय' शब्द-नय से कहता है, यदि तुम ऐसा कहोगे कि—घट, कुट और कुम्भ आदि शब्दों का अनुशासन घट से एक में सकेत ग्रहण हो जाता है, तो 'ऋजुसूत्र-नय' से ग्रहण किया हुआ सकेत विशेष पर्यालोचन में क्यों नहीं छोड़ देते ?

शब्द-नय कहता है कि—जिस रूप से जिस पदार्थ का बोध होता है, उसी रूप से उसकी पद शक्ति है। घट-पद की तरह कुट पद से भी घट रूप अर्थ का बोध होता है। अत सिद्ध हुआ कि घट, कुट और कुम्भ आदि एक घट

१—नय प्रदीप

रूप अर्थ के बोधक होने से इन्हे पर्यायान्तर कहना युक्ति-सगत ही है।

समभिरूढ-नय कहता है कि आपका यह कहना युक्ति-युक्त नही है, क्योकि 'घट चेष्टायाम्' धातु से 'घट' शब्द बना है। 'कुट कौटिल्ये' धातु से 'कुट' शब्द बना है, जबकि दोनो शब्दो की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न है, तो वाच्यार्थ भी भिन्न-भिन्न ही होने चाहिएँ—एक नही। जिस प्रकार तन्तुओं से 'पट' बना है, मिट्टी से 'घट' बना है, और दोनो के उत्पन्न होने के उपादान कारण भी भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार घट, कुट और कुम्भ आदि शब्दो की व्युत्पत्ति के प्रकार भी भिन्न-भिन्न ही है, अथा वाच्यार्थ भी भिन्न है। यदि तुम ऐसा कहोगे कि—व्युत्पत्ति ज्ञान के बिना भी पदार्थ का बोध हो सकता है, तो यह कथन भी युक्ति-सगत नही है, क्योकि अन्य किसी स्थल मे किसी एक शब्द की निष्पत्ति के प्रकार अनेक होने से व्युत्पत्ति-ज्ञान के बिना वाच्यार्थ का बोध कैसे हो सकता है? उदाहरण के रूप मे लीजिए—

जैसे कि 'कुपति' एक शब्द है, इसकी व्युत्पत्ति है—'कु-पृथ्वी तस्या पति कुपति' अथवा 'कुत्सित पति कुपति', अर्थात्—व्युत्पत्ति के अनुसार ही वाच्यार्थ का बोध हो सकता है।

शब्द-नय—ऐसा करने से तो पारिभाषिक शब्द की अनर्थकता सिद्ध न हो जाएगी?

समभिरूढ-नय—हो जाने दो, हमे इससे क्या चिन्ता?

क्योंकि एक स्थान पर ऐसा कहा भी गया है—"पारिभाषिकी नायतत्त्व ब्रवीति ।"

शब्द-नय—यदि अर्थ-बोधकत्व मात्र मे पदत्व भाव पाया जायगा, तो यह इच्छा शब्द-संकेत से भी अभिव्यक्त हो सकती है, तो फिर दोनो मे विषमता ही क्या है ?

समभिरूढ-नय—पदों का स्वभाव है कि व्युत्पत्ति के निमित्त से अर्थ का बोध कराना, एवं यह इच्छा शब्द-संकेत से अस्वभाव भूत धर्म का ग्रहण होता है। यही इन दोनो मे विषमता है।

शब्द नय—जिस प्रकार नानार्थक पद मे 'अर्थ संक्रम हो जाता है, उसी प्रकार अर्थ मे भी पद' संक्रम हो जाना चाहिए, अर्थात्—जैसे एक पद मे अनेक अर्थ समवेत हैं, वैसे ही एक अर्थ मे अनेक पदों का संक्रम हो जाता है, फिर इसमे क्या हानि है ?

समभिरूढ-नय—अर्थ' की तरह 'पद' का भी क्रिया के उपराग से संक्रम हो जाता है, अर्थात्—पद मे पद का संक्रम हो जाता है। किन्तु अर्थ का संक्रम नही होता, जैसे—(हरी) यह पद द्विवचनान्त है। 'हरि', 'हरि औ', यहां पद सारूप्येण एक शेष करके 'हरी' ऐसा रूप बना। यहां एक पद का दूसरे पद मे संक्रमण हो गया, किन्तु पद संक्रम से अर्थ संक्रम नही हुआ।

षष्ठ छात्र

छठे छात्र ने कहा—"सम्यक् प्रकारेण पर्याय शब्देषु निरुक्तिभेदेन अर्थमभिरोहन् समभिरूढ ।"

अर्थात्—जो पर्याय, जिस अर्थ के योग्य हो, उस पर्याय को उसी अर्थ मे अलग अलग स्वीकार करना तथा शब्द के अर्थ की व्युत्पत्ति मे लक्ष्य रखना—यह समभिरूढ नय का ध्येय है। जैसे—जिस पदार्थ या वस्तु मे घट शब्द की ध्वनि होती हो, उसे ही 'घट' कहेगा, खाली को नही।

प्रस्तुत नय एव शब्द मे अनेक वस्तुओ को 'वाच्य' नही मानता है, अर्थात्—कहने वाले के शब्द का जो अर्थ और अभिप्राय होता है, उसे तो 'वस्तु' मानता है, और शेष को 'अवस्तु', जैसे—किसी ने कहा—'योगीश्वर! अश्व दौडता है, इसका निग्रह करो।' इस वाक्य मे 'अश्व' शब्द के दो अर्थ होते हैं—'घोडा' और 'मन'। परतु कहने वाले का तात्पर्य साधु के सम्बन्ध मे 'मन' से है। अत मन तो 'वस्तु' है, और अश्व 'अवस्तु'। इसी प्रकार 'धर्म' शब्द के कहने पर धर्मास्तिकाय श्रुत धर्म और चारित्र धर्म की विवक्षा मे समभिरूढ नय बोलने वाले के शब्द का अभिप्राय लेकर, जो अर्थ प्रसगानुसार अभिमत हो, केवल उसे ही 'धर्म' मानता है, अन्य धर्म को 'धर्म' नही मानता है, अर्थात्—कहने वाले की मनोगत वस्तु को ही 'वस्तु' स्वीकार करना, इस नय का अभीष्ट लक्ष्य है।

वस्तुत 'शब्द' तो आधार है, और मानसिक अभिप्राय 'आधेय' है। वहाँ शब्द नय यह आशका प्रस्तुत करता है, कि—तुम्हारे कथन मे, और हमारे कथन मे क्या अतर है?

इसका उत्तर समभिरूढ़ देता है कि—'शब्द' का अर्थ तो अन्य वस्तु में भी प्राप्त होता है। जैसे—'गौ' शब्द का अर्थ 'वृषभ' के अतिरिक्त 'आदित्य,' 'स्वर्ग,' 'जल,' 'रश्मि,' 'दृष्टि बाण,' तथा 'वज्र', अर्थात्—'गच्छतीति गौ'—गमन क्रिया करने वाले भी सभी अर्थों में घटित हो जाता है। यह तो आपका अभिमत है, किन्तु अभिप्राय-युक्त 'आधार वस्तु' के अर्थ को ही 'वस्तु' मानना हमारा अभिप्रेत है। बस, यही दोनों में अन्तर है।

जिस प्रकार शब्द-पर्याय में भिन्नता होते हुए भी शब्द-नय एक ही अर्थ मानता है, वैसे ही अनेक अर्थों का आधार-भूत एक शब्द भी मानता है, परन्तु समभिरूढ़ नय भिन्न-भिन्न पर्याय-वाचक शब्दों का अर्थ भिन्न भिन्न मानता है, और नानार्थक शब्द का एक समय में एक ही अर्थ मानता है, उसे ही अभिप्रेत वस्तु मानता है, शेष अर्थों को 'अवस्तु'।

सप्तम छात्र

सातवें छात्र ने कहा—"वत्थूओ संकमणं होइ अवत्थु णए समभिरूढे।"—१

अर्थात्—वस्तु का अन्य किसी वस्तु में संक्रमण होना असंभव है।'

'जीव, जीवास्तिकाय, प्राणी, भूत, सत्त्व, विज्ञ, चेता, आत्मा, पुद्गली, कर्त्ता, विकर्त्ता, जन्तु, योनिक, स्वयम्भू, सशरीरी, ज्ञाता, तथा अन्तरात्मा' आदि, शब्द-नय

१—अनुयोग द्वार सूत्र।

'जीव' का 'अजीव' के रूप में संक्रमण नहीं होता, और न कार्मण पुद्गल ही 'जीव' रूप में सक्रान्त होता है।

प्रश्न—जब किसी रासायनिक प्रयोग से ताम्र का स्वर्ण, या पारस के स्पर्श से लोहा स्वर्ण हो जाता है, तब आपके कथनानुसार क्या 'ताम्र' या 'लोहा' स्वर्ण के रूप में सक्रान्त नहीं हुआ ? यदि कहो, नहीं होता, तो यह प्रत्यक्ष विरोध है। यदि कहो, "सक्रान्त हो जाता है," तो यह आगम विरोध है। एक स्थान पर भी विरोध आ जाए, तो फार्मूला गलत साबित हो जाने से वह फार्मूला—फार्मूला नहीं रहता। यदि दो प्रमाणों से प्रयोग गलत साबित हो जाए, तो कहना ही क्या ? अत इस विरोध का परिहार करिए ?

उत्तर—सक्रमण होने के जो-जो उदाहरण आपने दिए हैं, वे अन्वय और व्यतिरेक से विपरीत है। 'लोहा' पारस के स्पर्श में 'स्वर्ण' बन जाता है, किन्तु यह तो उसकी पर्याय है। वस्तुत पर्याय तो परिवर्तित होती ही रहती है। पर्याय तो विश्रसा से भी परिवर्तित होती है, तथा प्रयोगज से भी। यदि लोहे का पारस बन जाता, और पारस का लोहा बन जाता, तो इसे हम कथचित् सक्रम कह सकते हैं—सर्वथा नहीं, किन्तु ऐसा होता नहीं।

प्रश्न—दुग्ध में दधि मिश्रित कर देने से वह दुग्ध दधि के रूप में सक्रान्त हो जाता है, यह उदाहरण तो अन्वय से व्याप्त है ?

उत्तर—आपका यह कथन भी युक्ति-युक्त नही, क्योंकि सजातीय मे संक्रम हो जाना, तो पर्याय है। विजातीय मे संक्रम तीन काल मे भी नही हो सकता। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का परिणमन होना, पुद्गलास्तिकाय की 'गुण पर्याय' है, तथा संस्थानो मे परिणमन होना 'द्रव्य पर्याय' है। जिनके उदाहरण आपने दिए हैं, वे समस्त पुद्गल 'द्रव्य' के हैं। एक वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान का, दूसरे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान मे परिणत होना तो पर्याय है।

जिस प्रकार पुद्गलास्तिकाय का किसी समय भी धर्मास्तिकाय या जीवास्तिकाय आदि मे संक्रम नही होता, उसी प्रकार एक शब्द का दूसरा सजातीय शब्द न होने से कथंचित् भी संक्रम नही हो सकता, और विजातीय शब्द का संक्रम तो होना ही असम्भव है। 'इन्द्र' का 'शक्र' मे संक्रम नही हो सकता, 'शक्र' का 'इन्द्र' मे नही हो सकता। अर्थात्—'इन्द्र' कभी भी 'शक्र' नही हो सकता, और न 'शक्र' कभी 'इन्द्र' हो सकता है। यह है 'समभिरूढ नय' का अभीष्ट मत।

अध्यापक

छात्रो का वक्तव्य सुनकर अध्यापक ने अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए—

प्रिय छात्रो! यद्यपि तुम सब ने समभिरूढ-नय के विषय मे बहुत कुछ विवेचन किया है, तथापि प्रसंगानुसार अपूर्ण विषय को पूर्ण करने के लिए मुझे भी कहना कुछ आवश्यक है। अतः सावधान होकर सुनो—

समभिरूढ-नय व्याकरण शास्त्र की व्युत्पत्ति के अनुसा
भिन्न-भिन्न पर्याय शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ होने से पदार्थों
भिन्न भिन्न मानता है, अर्थात्—जितने भी पर्यायवाची शब्द
नाम हैं, उतने ही वस्तु भेद और अर्थ-भेद इस नय के मत में म
जाते हैं। क्योंकि इस नय का अर्थ केवल अभिधेय ही नहीं
अपितु पर्यायवाचक शब्द भी है फिर भी उन शब्दों के भिन्न
भिन्न अर्थों का स्वीकार करना, इस नय का मुख्य लक्ष्य है

यदि पर्यायवाची शब्द की दृष्टि से एकार्थवाचक कहे ज
वाले 'शब्द' और 'पर्याय' के भेद होने पर भी वस्तु का भेद
माना जाए तो फिर भिन्नार्थवाचक पर्याय-भेद और शब्द भेद
होने पर भी वस्तुओं का भेद न होना चाहिए। जैसे—'घट' और '
में दोनों ही पदार्थ भिन्न भिन्न पर्यायों और भिन्न-भिन्न शब्द
वाले हैं। यदि अर्थ भेद न माना जाएगा, तो उक्त दोनों
भेद भी सिद्ध न हो सकेगा। अतएव इस नय के मत में श
भेद के द्वारा वस्तु के अर्थ भेद का होना अनिवार्य माना ग
है। यह नय किसी वस्तु का अंश-मात्र गुण न्यून होने प
भी उसे 'पूर्ण वस्तु' मानता है जैसे जनगण मनोनी
राष्ट्रपति' को भी 'राष्ट्रपति' मानता है।

दूसरा उदाहरण देखिए—एक विद्यार्थी बी० ए०, बी
टी० में सर्व प्रथम पास हुआ है और शिक्षामन्त्री ने उ
अमुक तारीख को अमुक हाई-स्कूल में प्रधान अध्यापक प
को सुशोभित करने के लिए निर्देश दिया है। समभिरूढ-न
के अनुसार अभी से ही उसको प्रधान अध्यापक कह सकते
हैं। इसी प्रकार जो आन्तरिक युद्ध में विजयी बनते हु

अग्रसर होते जा रहे है, क्षयोपशम जन्य समस्त ज्ञान के धारक हैं, और इस ससार-समर मे भी पूर्ण विजय प्राप्त करने वाल है, उन्ह 'जिन' कह सकत हैं। 'अवधि' तथा 'मन' पर्याय ज्ञान होने के पश्चात् इसी भव मे जिन्ह केवल-ज्ञान भी अवश्य प्राप्त कर लेना है, उन्ह 'केवली' कह सकते हैं।

घन घातिक कम दलिको का जिगीपु, तथा केवल-ज्ञान 'लक्ष्मी' के ईप्सु अवश्य ही तीन लोक के पूज्य व विश्ववद्य बन ही जात हैं। अत उन्ह 'अर्हन्' कह सकते हैं और अरिहन्त को-'सिद्ध' कह सकते हैं।

अथवा बारहवें गुण-स्थानवर्ती को 'जिन', 'केवली', 'अर्हन्' कह सकते हैं, क्योकि अन्तर्मुहूर्त म उन्हे केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेना है। अत उन्ह पच-परमेष्टी के पहले पद मे सम्मिलित कर सकते हैं, अर्थात्—उन्ह 'अरिहन्त' कह सकते हैं।

चौदहव गुण स्थानवर्ती अरिहन्त को सिद्ध कह सकते हैं, क्योकि वहाँ का कालमान पूर्ण होने के पश्चात् सिद्ध गति को ही प्राप्त करना शेप रह जाता है, अत वे सिद्ध भगवन्त ही हैं। यदि कोई चार ज्ञान का धारक है, तो उसे समभिरूढ-नय चार ज्ञान का धारक नही मानता। जिस ज्ञान मे उपयोग लगा हुआ होगा, उसी को धारक मानता है। यह नय 'आगमधर' उसी को मानता है, जिसका उपयोग 'सूत्र' तथा 'अर्थ' मे सलग्न है, और अध्ययन किय जाने वाले विषय को 'आगम' मानता है। उपयोग शून्य अध्ययन और अध्येता को 'आगम' या 'आगमधर' नही मानता। जो साधक जिस सूत्र का उपयोग-पूवक एव अर्थ-युक्त अध्ययन

कर रहा है, उसे यह नय उसी सूत्र का ज्ञानी मानता है—अन्य का नहीं।

एक व्यक्ति अनेक भाषाएँ जानता है, किन्तु यह नय जिस भाषा में उपयोग लगा है, वर्तमान में उसी का ज्ञाता मानता है—अन्य का नहीं, क्योंकि एक समय में जब एक ही भाषा बोली जा सकती है—दो नहीं। इसी प्रकार उपयोग भी वर्तमान में केवल एक ही भाषा में लग सकता है—दो में नहीं। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत-नय का कथन यह भी है कि—शब्द का अर्थ एक समय में एक व्यक्ति एक ही ग्रहण कर सकता है—अनेक नहीं। नानार्थक शब्दों में इसकी मान्यता नहीं है, जबकि शब्द-नय नानार्थक शब्दों में भी विश्वास रखता है और उपयोग शून्य आवश्यक को अवस्तु मानता है। द्रव्यावश्यक तो दुर्लभ-बोधि, अनन्त संसारी, मायी, और मिथ्यादृष्टि भी करता है, किन्तु उससे कोई परमार्थ नहीं सधता। अतः यह कूटकार्षापण की तरह अवस्तु है। वस्तुतः भावावश्यक ही परमार्थ साधक है, अतः जिज्ञासु को उसी की सम्यनिष्ठ होकर उपासना करनी चाहिए।

उत्पन्न दधि-भावेन,
नष्ट दुग्धतया पय ।
गोरसत्वात् स्थिर जानन्,
स्याद्वाद विद् जनोऽपि क. ॥

— उपाध्याय यशोविजय

"दूध, दधि-रूप से उत्पन्न हुआ है और दूध-रूप से नष्ट हुआ है, किन्तु गोरस-रूप से स्थिर है—यह वस्तु तत्त्व का रहस्य कोई स्याद्वाद वेत्ता ही जान सकता है, अन्य नही।"

एवंभूत-नय

क्रिया-परिणतार्थं चेदेवम्भूतो नयो वदेत् ।

— द्रव्यानुयोग तर्कणा

"एवम्भूतस्तु सर्वत्र, व्यजनार्थ-विशेषण· ।
राज-चिन्है र्यथाराजा, नान्यदा राज-शब्द-भाक् ॥"

—नयोपदेश, ३९

"जिस काल मे जो क्रिया हो रही है, उस काल मे उस क्रिया से सम्बद्ध विशेषण किंवा विशेष्य नाम का व्यवहार कराने वाला विचार 'एवभूत-नय' कहलाता है।"

• १३ •

एवभूत-नय

समभिरूढ नय का वक्तव्य समाप्त होने के पश्चात् अध्यापक ने छात्रों को 'एवभूत नय' की व्याख्या करने का निर्देश दिया। जिसके अनुसार सातों छात्रों ने अपने-अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए—

प्रथम छात्र

पहले छात्र ने कहा—"शब्दाना स्वप्रवृत्ति निमित्तभूत क्रिया-विशिष्टमर्थ वाच्यत्वनाभ्युपगच्छन्नेवभूत इति ।"—१

अर्थात्—इन्दनादि क्रिया विशिष्ट इन्द्र आदि व्यक्ति का पिण्ड हो या न हो, परन्तु इन्द्रादि का व्यपदेश लोक में तथा व्याकरण में 'रूढ' है, अत समभिरूढ का यह अभिमत है कि—रूढ शब्दों की व्युत्पत्ति शोभा मात्र ही है। "व्युत्पत्ति-रहिता शब्दा रूढा इति वचनात्", किन्तु एवभूत-नय को यह अर्थ अभीष्ट नही है। क्योकि उसका कहना है कि—जिस समय 'इन्दन' आदि क्रिया से विशिष्ट इन्द्र होगा, उस काल

१—नय प्रदीप

म ही वह 'इन्द्र' शब्द का वाच्य है, उससे रहित काल म नहीं।

यद्यपि भाष्य आदि व्याकरण-शास्त्र के ग्रन्थो म जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध और यदृच्छा, पांच प्रकार की शब्द-प्रवृत्ति कही है, तथापि वे सब व्यवहार मात्र ही हैं—निश्चय म नही। समभिरूढ नय व्युत्पत्ति-भेद से अर्थ-भेद तक ही सीमित है, किन्तु एवभूत-नय कहता है कि—जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित होता हो, तभी उस 'शब्द' का वह 'अर्थ' मानना चाहिए। जिस शब्द का जो अर्थ होता हो, उसके होने पर ही शब्द का प्रयोग करना, 'एवभूत-नय' है।' जैसे जो शोभित होता है, वह 'इन्द्र' है। इस व्युत्पत्ति को दृष्टि म रखते हुए जिस समय वह इन्द्रासन पर शोभित हो रहा हो, उसी समय उसे 'इन्द्र' कहना चाहिए। शक्ति का प्रयोग करते समय उसे 'शक्र' कहना चाहिए, 'इन्द्र' नही। इन्द्राणी के साथ क्रीडा करते समय उसे 'शचीपति' कहना चाहिए। आगे-पीछे अन्यकाल म 'शचीपति' का प्रयोग करना इस नय को अभीष्ट नही है।

वाणिज्य करते हुए को 'वणिक्' कहना, भक्ति करते हुए को 'भक्त' कहना, सेवा करते हुए को 'सेवक' कहना, तप करते हुए को 'तपस्वी' कहना, मनन करते हुए को 'मुनि' कहना, तथा अनुप्रेक्षापूर्वक अध्ययन करते हुए को 'अध्येता' कहना ही इस नय को अभीष्ट है। आगे और—

ीछे पूर्वोक्त शब्दो का प्रयोग करना इस नय को मान्य
ही है।

द्वितीय छात्र

दूसरे छात्र ने कहा—"व्यञ्जनार्थयोरेवभूत ।"—१

अर्थात्—'व्यजन' शब्द और 'अर्थ' अभिधेय, इन दोनो का यथार्थ कथन करने वाले अध्यवसाय को 'एवभूत नय' कहते हैं। वस्तुत इस शब्द का वाच्यार्थ यही है और इस अर्थ का प्रतिपादक भी यही शब्द है। इस तरह से वाच्य और वाचक के सम्बन्ध की अपेक्षा रखकर तत्क्रिया विशिष्ट वस्तु के ग्रहण करने को 'एवभूत-नय' कहते हैं, अथवा वाचक और उसके वाच्य की परस्पर मे अपेक्षा रखकर, ग्रहण करने वाले अध्यवसाय को 'एवभूत नय' कहते हैं।

विशेष रूप से गहराई मे जाने वाली बुद्धि, जब अन्त तक गहराई मे पहुँच जाती है, तब वह विचार करती है कि—यदि व्युत्पत्ति-भेद से अर्थ भेद माना जा सकता है, तब तो ऐसा भी मानना चाहिए, कि जब व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ घटित होता हो, तभी उस शब्द का वह अर्थ स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा नही।

इस कल्पना के अनुसार किसी समय राज चिन्हो से शोभित होने की योग्यता को धारण करना, अथवा मनुष्य रक्षण के उत्तरदायित्व को प्राप्त कर लेना, इतना मात्र ही 'राजा' या 'नृप' कहलाने के लिए पर्याप्त नही, अपितु राजा

१—तत्त्वार्थ भाष्य

तो उसी समय कहलाने योग्य है, जबकि सचमुच राज-दण्ड को धारण करता हुआ उससे शोभायमान हो रहा हो। इसी प्रकार 'नृप' तब कहना चाहिए, जब वह प्रजा का रक्षण कर रहा हो।

अर्थात्—किसी व्यक्ति के लिए 'राजा' या 'नृप' शब्द का प्रयोग करना तभी ठीक होगा, जबकि उसमें शब्द-व्युत्पत्ति से सिद्ध हुआ अर्थ घटित हो रहा हो। इसी रीति से जब अध्यापक पढा रहा हो, तभी उसे 'अध्यापक' कहा जा सकता है। जब तन्तुवाय वस्त्र बुन रहा हो, तभी उसे 'तन्तुवाय' कह सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार साधना-परायण व्यक्ति को 'साधक, अध्ययन परायण व्यक्ति को 'अध्येता' कहा जायगा।

साराश मे यह कथन पर्याप्त है कि जब भी कोई क्रिया हो रही हो, उसी समय उससे सम्बन्धित विशेपण या विशेष्य नाम का व्यवहार करने की मान्यताएँ 'एवभूत-नय' की कहलाती है।

तृतीय छात्र

तीसरे छात्र ने कहा—"व्यञ्जनार्थविशेपान्वेपणपरा-ऽध्यवसायविशेप एवभूत"।—१

अर्थात्—"जो विचार शब्द से फलित होने वाले अर्थ के घटने पर ही उस वस्तु को उस रूप मे मानता है, अन्यथा नही, वह 'एवभूत-नय है।"

शब्द से कही हुई क्रियादि चेष्टाओ से युक्त वस्तु को ही शब्द का वाच्य मानने वाला 'एवभूत नय' है।

१—नय रहस्य प्रकरण।

अर्थात्—जो 'शब्द' को अर्थ से और 'अर्थ' को शब्द से विशेषित करता है, वह 'एवंभूत-नय' है। जैसे—'घट' शब्द चेष्टा अर्थ वाली 'घट' धातु से बना है। अतः इसका अर्थ यह है कि—जो जल-धारण आदि क्रिया की चेष्टा करता है, वह 'घट' है।

इसलिए एवंभूत-नय के मत से 'घट' अर्थ तभी 'घट' शब्द का वाच्य होगा, जबकि वह जल-धारण आदि क्रिया करता हो, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार जीव को तब ही सिद्ध कहा जा सकता है, जब वह समस्त कर्मों का सर्वथा विलय करके मोक्ष में विराजमान हो जाए। तात्पर्य यह है कि एवंभूत-नय में उपयोग-सहित क्रिया की प्रधानता है। इस नय के मत में वस्तु तभी पूर्ण होती है जबकि वह अपने सम्पूर्ण गुणों से युक्त हो।

चतुर्थ छात्र

चौथे छात्र ने कहा—'यत्क्रिया विशिष्टं शब्देनोच्यते तामेव क्रियां कुर्वद् एवंभूतमुच्यते।'—१

अर्थात्—जिस क्रिया का जो वाचक शब्द है उसी क्रिया को करते हुए वस्तु को वस्तु मानने वाला एवंभूत-नय है। समभिरूढ नय इन्दनादि क्रिया के होने या न होने पर 'इन्द्र' आदि को इन्द्र आदि शब्दों के वाच्य मान लेता है, क्योंकि वे शब्द अपने वाच्यों के लिए रूढ हो चुके हैं। परन्तु एवंभूत नय इन्द्रादि को इन्द्रादि शब्दों के वाच्य तभी मानता है,

१—नय रहस्य प्रकरण।

जबकि वे इन्दनादि क्रियाओं में परिणत हों। जैसे—एवंभूत-नय 'इन्दन' क्रिया का अनुभव करते समय ही 'इन्द्र' को इन्द्र शब्द का वाच्य मानता है, और 'शक' क्रिया में परिणत होने पर ही 'शक्र' को शक्र शब्द का वाच्य स्वीकार करता है, अन्यथा नहीं। इस सम्बन्ध में यह कहा भी गया है कि—

"यदेवार्थक्रियाकारि, तदेव परमार्थ सत्।
यच्चनार्थक्रियाकारि, तदेव परतोऽप्यसत्॥"

अर्थात्—जो अर्थ क्रियाकारी है, वही परमार्थ में सत् है, और जो अर्थ क्रियाकारी नहीं है, वह असत् है। चुम्बक को 'चुम्बक' तभी कहा जा सकता है, जबकि वह लोहे को आकर्षित कर रहा हो। आगमधर को 'आगमधर' तभी मानता है, जबकि उसके योग और उपयोग आगम में ही संलग्न हों, अन्यथा नहीं।

यह नय अनुप्रेक्षा को स्वाध्याय मानता है। वाचना, पृच्छना, पर्यटना तथा धर्म-कथा को नहीं। जिस विषय की अनुप्रेक्षा की जा रही हो, उसी को 'आगम' मानता है। जब ज्ञान में उपयोग लगा हुआ हो, तभी उसे 'ज्ञानी' मानता है। जब दर्शन में उपयोग लगा हुआ हो, तभी उसे 'दर्शनी' मानता है। जब चारित्र की आराधना में उपयोग लगा हुआ हो, तभी उसे 'चारित्रवान्' मानता है। तात्पर्य यह है कि समभिरूढ-नय ने वस्तु की जो संज्ञा स्वीकार की है, उसी को एवंभूत-नय जिस वस्तु की जैसी संज्ञा है, यदि वह वैसी ही क्रिया करे, तो उसको वस्तु मानता है। क्रिया-रहित संज्ञा को वस्तु नहीं मानता।

पचम छात्र

पाँचव छात्र ने कहा—

"वजण अत्थ तदुभय एवभूश्रा विसेसेइ" ।—१

अर्थात्—जिसके द्वारा अर्थ व्यक्त किया जाए, उसे व्यजन (शब्द) कहते हैं। वह व्यजन जिस अभिधेय वस्तु को बतलाता है, उसे अर्थ कहते है। शब्दार्थ के मिलित रूप को तदुभय कहते है। अस्तु, जो शब्द अर्थ को विशेपित करता हो, वह 'एवभूत नय' है।

एव=इसी प्रकार, भूत=तुल्य, जसा, अर्थात्—जो पदार्थ अपने गुणो से पूर्ण हो, जिस क्रिया के योग्य हो, उसी म लगा हो—अर्थात् वही क्रिया करता हो, और उसी क्रिया म उसके परिणाम हो, उस 'एवभूत नय' कहते हैं। जसे—घडा पानी से भरा हो, घट-घट शब्द कर रहा हो, उसी समय एवभूत-नय उसे 'घडा' कहेगा, न कि घर मे पडे हुए रिक्त घट को। वास्तव मे देखा जाए तो जब विवक्षित भाजन-विशेप पानी से भरा हुआ हो, घट-घट शब्द कर रहे हो, ऐसी चेष्टा करने से ही उस भाजन विशेप की 'घट' सज्ञा प्रसिद्ध हुई है। जब वह घट वही क्रिया कर रहा हो, जिससे उसकी 'घट' सज्ञा प्रसिद्ध हुई, तभी एवभूत-नय उसे 'घट' मानता है। निश्चेष्ट पडे रहने से उसे 'घट' नही कहा जा सकता। एवभूत-नय अशरीरी आत्मा को ही मुक्तात्मा मानताहै।

प्रश्न—'जीव, नोजीव, अजीव, तथा नोअजीव—इस प्रकार से इन चारो मे यदि केवल शुद्ध पद का ही

१—अनुयोग द्वार सूत्र।

उच्चारण किया जाए, तो नैगम आदि नयों में से किस नय के द्वारा कौन से अर्थ का बोध कराया जाता है ?

उत्तर—'जीव' ऐसा उच्चारण करने पर देशग्राही नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द और समभिरूढ, इन नयों के द्वारा चार गतियों में से किसी भी गति में रहने वाले जीव का बोध होता है। क्योंकि यह नय 'जीव' शब्द से औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पांच प्रकार के भावों में से यथासम्भव भावों को धारण करने वाला है। अतः वह 'जीव' है।

'जीवतीति जीवः' अर्थात्—जो प्राणों को धारण करने वाला है, उसे जीव कहते हैं। जिनका संयोग होने पर यह व्यवहार हो कि 'यह जीवित है' और जिनका वियोग हो जाने पर यह व्यवहार हो कि 'यह मर गया', उनको 'प्राण' कहते हैं। किसी भी गुण-स्थान में स्थित आत्माएं किसी न किसी द्रव्य प्राण से अधिष्ठित हैं, अतः उन्हें जीव कह सकते हैं।

उपर्युक्त कथन के अनुसार वे द्रव्य-प्राण ये हैं—पांच इन्द्रियां, तीन योग, श्वासोच्छ्वास, और आयुबल-प्राण। इस सम्बन्ध में एवंभूत नय की यह मान्यता है कि 'जीव' शब्द का उच्चारण करने पर चतुर्गति रूप संसार में रहने वाले 'जीव द्रव्य' का ही बोध होता है, सिद्ध अवस्था प्राप्त करने वाले का बोध नहीं होता। क्योंकि सिद्ध-पर्याय में उक्त प्राणों का धारण नहीं होता, अतः 'जीव' शब्द से 'संसारी जीव' का ही ग्रहण होता है, मुक्तात्माओं का नहीं।

कतिपय दिगम्बर आचार्यों की यह मान्यता है कि एवंभूत-नय के अनुसार सिद्ध भगवन्तों को ही 'जीव' कह सकते हैं क्योंकि वे भाव प्राणों के धारक हैं। वे भाव-प्राण ये हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, और अनन्त बल-वीर्य। द्रव्य प्राणों के धारण करने वालों को तो केवल व्यवहार से ही 'जीव' कह सकते हैं, निश्चय से नहीं।

यह कथन युक्ति-युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि एवंभूत-नय की यह मान्यता है कि—जो औदयिक भाव में स्थित हैं उन्हीं को 'जीव' कह सकते हैं। जो क्षायिक भाव तथा पारिणामिक भाव में स्थित हैं, उन्हें जीव नहीं कह सकते। इस सम्बन्ध में कहा भी गया है—'एवंभूतस्य जीवप्राय औदयिक भावग्राहकत्वात्।'

प्रश्न—यदि 'जीव' के औदयिक भाव ही एवंभूत-नय का अभिप्रेत है, तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मलयगिरि आदि आचार्यों ने भी सिद्धों को 'जीव' कहा है यह किस भाव से कहा?

उत्तर—पाँच भावों को ग्रहण करने वाले—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द और समभिरूढ, इन्हीं छह नयों के अभिप्राय से कहा गया है न कि 'एवंभूत-नय' के अभिप्राय से।

नो जीव—इस शब्द के द्वारा दो अर्थों का बोध होता है—एक तो जीव से भिन्न पदार्थ, और दूसरा जीव का अंश। क्योंकि 'नो' शब्द-सर्व प्रतिषेध में तथा ईषत् प्रतिषेध में भी आता है। जब सर्व प्रतिषेध अर्थ विवक्षित हो,

तब 'नो जीव' का अर्थ जीव-द्रव्य से भिन्न कोई भी वस्तु ; ऐसा समझना चाहिए।

जब ईषत् प्रतिषेध अर्थ अभीष्ट हो, तब जीव-द्रव्य का अंश ग्रहण करना चाहिए। अंश भी दो प्रकार के होते है— (क) देश रूप, और (ख) प्रदेश रूप। देश-रूप अंश—नैगम में है। और प्रदेश रूप अंश को शब्द-नय पर्यन्त सभी नय स्वीकार करते है। किन्तु समभिरूढ तथा एवंभूत, इन दो नयों को 'नो जीव' शब्द का 'ईषत् प्रतिषेध' अर्थ अभीष्ट नहीं है।

अजीव'— इस शब्द से पुद्गल आदि अजीव द्रव्य का ही ग्रहण होता है, क्योंकि यहाँ पर अकार सर्व प्रतिषेधवाची है। नञ् रूप प्रतिषेध के दो अर्थ होते है—एक 'प्रसज्य' और दूसरा 'पर्युदास'। प्रसज्य पक्ष में 'नञ्' का अर्थ सर्व प्रतिषेध, और पर्युदास के पक्ष मे 'तद्भिन्न' और 'तत्सदृश' अर्थ होता है।

"पर्युदास सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत्"—इस नियम के अनुसार एवंभूत के विना सभी नय 'अजीव' शब्द का 'सर्व प्रतिषेध' अर्थ करते हैं। अतः जीव से भिन्न पुद्गल आदि अर्थ ही उन्हे अभिप्रेत है, किन्तु एवंभूत नय को 'अजीव' शब्द का अर्थ सिद्ध भगवन्त और पुद्गल आदि दोनो ही मान्य हैं। प्रसज्य की अपेक्षा से पुद्गल आदि, तथा पर्युदास की अपेक्षा से सिद्ध भगवन्त समझना चाहिए।

'नो अजीव'—इस शब्द से दो अर्थों का बोध होता है। जब 'नो अजीव' और 'अ', इन दोनो का अर्थ सर्व प्रतिषेध होगा, तब 'नो अजीव' का अर्थ भवस्थ जीव-द्रव्य ही

झना चाहिए, क्योकि—"द्वौ निषेधौ प्रकृत गमयत,"
र्थात्—निषध का निषेध करने स प्रकृत-स्वरूप का वोध
जाता है। जब 'नो' का अथ ईषत् निषेध, और 'अ' का
सब निषेध होगा तब 'नो अजीव' का अथ जीव-द्रव्य
देश-प्रदश समझना चाहिए।

ठ छात्र

ठ छात्र ने कहा—

"एकस्यापि ध्वनेर्वाच्य, सदा तन्नोपपद्यत।
क्रिया-भेदन भिन्नत्वादेवभूतोऽभिमन्यत ॥"—१

अर्थात्—एक शब्द का जो भी वाच्य है, वही का वही
थ सदा नही रहता, प्रत्युत क्रिया भेद से अथ म भेद हो
ता है, ऐसा एवभूत नय मानता है।

शब्द क अभिधय वाच्यार्थ को क्रिया की परिणति के
मय म ही वस्तु मानना, अन्य समय म नही। ऐसा अभिमत
भूत नय का है।

एवभूत-नय समभिरूढ नय को शिक्षा देते हुए कहता
कि—जब आपने सज्ञा-भेद स वस्तु-भेद मान लिया, तो
क्या-भेद स भी वस्तु भेद होता है, ऐसा क्या नही मान
ते ? यदि दखा जाय तो वस्तुत 'क्रिया' ही वस्तु म भेद
लने वाली है। जब 'वस्तु' क्रिया म प्रवेश करती है, तभी
से 'वस्तु' कहा जाता है। जैसे—'घटते चेष्टते वा तदेव घट',
र्थात्—जो वतमान काल म चेष्टा कर रहा है, वह 'घट'
। जो पहले चेष्टा कर चुका या अनागत काल मे चेष्टा

१—सन्मति तक टीका।

करेगा उसे घट नहीं कहा जा सकता है। यदि उसे भी घट कहा जाए तो सभी वस्तुओं को 'घट' होने का प्रसंग आ जाएगा।

एवंभूत नय - जभी जिस वस्तु की संज्ञा हो, वह वस्तु की क्रिया करता हो तब ही उस अध्यवसाय में प्रवृत्त भी हो।' ये तीनों अपने गुणों से पूर्ण होकर उस गुण के अनुसार क्रिया में प्रवृत्त हो और द्रव्य गुण पर्याय तथा वस्तु-धर्म सब प्रत्यक्ष होवे तो तभी वह वस्तु कहेगा। अंशमात्र भी गुण न्यून हो पर उसे 'वस्तु' नहीं मानेगा।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि जब ध्यानस्थ होकर भी मानसिक कल्पनाओं से घोर संग्राम कर रहे थे तब उन्हें एवंभूत-नय 'युद्ध वीर' मानता है, ध्यानवीर और 'मुनीन्द्र' नहीं। क्योंकि यह नय सब प्रथम मानसिक वृत्तियों को प्रधानता देता है, और वचन एवं शरीर को गौणता। मानसिक वृत्तियों बिना केवल वचन और काय निर्बल है। व्यावहारिक दृष्टि से वचन और काय सबल हैं। निश्चय दृष्टि से मन प्रबल है क्योंकि गुणस्थानों का आरोहण भावों से होता है, न कि वाणी और काय से। तन्दुल मत्स्य सातवीं नरक की स्थिति मन से ही बांधता है। समनस्क मनुष्य ही सर्वार्थसिद्ध लोक तक की स्थिति बांध सकते हैं—अन्य नहीं।

एवंभूत-नय उपयोग शून्य आगम-पाठी को 'आगमधर' नहीं मानता, जब तक कि ज्ञान के साथ चारित्र का सम्बन्ध नहीं होता। वस्तुतः ज्ञान का फल भी चारित्र है। अतः यह सिद्ध हुआ कि—जो व्यक्ति आगमों का अध्ययन

करके बहुश्रुत बन गया हो, और साथ ही शुद्ध भाव से अहासुत्त, अहातच्च अहाकप्प, अहामग्ग' के अनुसार उपयोग सहित चारित्र का पालन करने वाला भी हो, तभी उसे आगमधर' मानता है।

सप्तम छात्र

सातवें छात्र ने एवभूत नय का विवचन करते हुए कहा कि—

"एव जह सद्दत्थो सतो भूओ तदन्नहाऽभूओ।
तेणेवभूयनओ सद्दत्थ परो विमसेण" ॥—१

अर्थात्—जो 'शब्द' जिस 'अर्थ' का बोधक है, और वह वस्तु भी वसी ही क्रिया कर रही हो, तभी उस वाच्य का वह शब्द वाचक हो सकता है, जसे 'गच्छतीति गौ' अर्थात्—जो चले उसे 'गौ' कहते हैं। जब वह खडी हो या बैठी हो, तो उसे 'गौ' नही कहते। इसी प्रकार 'आशुगामित्वाद् अश्व' अर्थात्—जो शीघ्र चले, उसे 'अश्व' कहते है। जब रसोई बना रहा हो, तभी उसे 'रसोइया' कह सकते हैं। प्रदीप शब्द से दीपन क्रिया से उपेत अर्थ ही अभिप्रेत है। दीपन-क्रियाहीन दीप को दीप नहीं मानता। इस नय में उपयोग सहित क्रिया की ही मुख्यता है। एवभूत नय के मत मे एक पर्याय के अभिधेय होने पर भी एक ही पर्याय का वाचक जो शब्द है, वही एक शब्द उस अभिधेय का वाचक है, क्योकि विद्यमान भाव ही निश्चय से आत्मीय कार्य के

१—विशेषावश्यक भाष्य

एवभूत नय का विषय अत्यन्त गम्भीर और कठिन है। ज्ञानावरणीय कर्म का जितना क्षयोपशम प्रबलतर होगा, उतना ही एवभूत-नय का स्वरूप भली भाँति जाना जा सकता है। एवभूत-नय से परखे हुए विचार सिद्धान्त के रूप मे परिणत हो जाते है। जो खडित नही हो सकता, वस्तुत वही वीतराग देव का सिद्धान्त है। आलाप पद्धति मे कहा है—

सूक्ष्म जिनोदित तत्त्व, हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञा-सिद्ध तु तद्ग्राह्य, नान्यथा वादिनो जिना ॥"—१

जिनोक्त तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है, जो कि हेतुओ से खडित नही हो सकता, वह तो आज्ञा से ही मान्य है। क्योकि जो रागद्वेष से रहित है, वे अन्यथावादी नही हो सकते। विचारो को मलिन करने वाले राग-द्वेष है, उनको जिन्होने सर्वथा क्षीण कर दिए, वे तुरन्त सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाते हैं। वे सत्यपूत होने से सत्यवादी ही होते है—अन्यथावादी नही। अन्यथावादी तो मोहग्रस्त होते हैं। द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से वस्तु मे सर्व धर्मों की अभेद रूप से स्थिति रहती है। और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से यह अभेद स्थिति उपचार रूप से रहती है। अनेकान्तवाद की सूचना इन दोनो से होती है। जैन-सिद्धान्त 'सम्यग् एकान्त' और 'सम्यग अनेकान्त', इन दोनो को मानता है। सम्यग् एकान्त, नय का दूसरा नाम है तथा सम्यग् अनेकान्त, प्रमाण का। 'मिथ्या एकान्त' और 'मिथ्या अनेकान्त', ये दो शब्द क्रमश नयाभास और प्रमाणाभास के द्योतक हैं।

१—आलाप पद्धति।

सांख्य दर्शन केवल द्रव्य को ही तत्त्व मानता है, उसकी पर्याय को नहीं। परन्तु पर्याय भी अनुभव सिद्ध है, अतः वह मत युक्ति-युक्त नहीं है।

बौद्ध-दर्शन केवल पर्याय को ही तत्त्व मानता है। इसके सिवाय अन्य किसी द्रव्य-विशेष को तत्त्व नहीं मानता। अतः बौद्धों की यह मान्यता भी युक्ति युक्त नहीं है। क्योंकि स्वर्ण यदि द्रव्य है, तो कुण्डल, कटक आदि उसके पर्याय हैं। यह अनुभव सिद्ध है।

अनेकान्त सिद्धान्त को सम्यग् रीति से विचार करने पर यह कहना कठिन हो जाता है कि जैनों की दृष्टि से अन्य दर्शन बिल्कुल असत्य हैं।—१

सम्यक् अनेकान्त समस्त दर्शनों में कथंचित् सत्यता अवश्य स्वीकार करता है। यदि हम अन्य दर्शनों को अपनी दृष्टि से ठीक नहीं समझेंगे, तो यह भी तो मिथ्या एकान्त हुआ, जिसका जैनागमों में निषेध किया गया है। अनेकान्त और स्याद्वाद, ये दोनों शब्द सामान्य रीति से एक ही धर्म में व्यवहृत होते हैं। मात्र जैन ही नहीं, परन्तु जैनेतर बुद्धिमान वर्ग भी जैन दर्शन व जैन सम्प्रदाय को अनेकान्त दर्शन या अनेकान्त धर्म के रूप में पहचानते हैं। वस्तुतः

१—जहाँ मिथ्यात्व का प्रश्न है, वहाँ सभी असत्य है। किन्तु नन्दी सूत्र में प्रतिपादन किया है कि मिथ्या दृष्टियों के बनाए हुए ग्रंथ को यह सम्यग्दृष्टि सम्यक् रूप में परिणत कर सकता है। और वीतराग की वाणी को मिथ्या दृष्टि मिथ्यात्व रूप में परिणत कर देता है। सत्य भी असत्य बन जाता है। (नन्दी सूत्र)—लेखक

अनकान्त एक प्रकार की विचार पद्धति है। वह सब दिशाओ तथा सब ओर से खुला हुआ एक मानस चक्षु है। ज्ञान के, विचार के, और आचरण के किसी भी विषय का वह केवल सकीर्ण दृष्टि से देखने के लिए निषेध करता है, और जितना शक्य हो, उतने ही अधिक दृष्टिकोणो से, अधिक से अधिक पहलुओ से, और अधिक से अधिक मार्मिक रीति से वह सब कुछ विचारने और आचरण करने का पक्षपात रखता है। उसका यह पक्षपात भी केवल सत्य पर ही आश्रित है।

अनकान्त के जीवन का अर्थ है—उसके आगे पीछे और भीतर सर्वत्र सत्य का यथार्थ प्रवाह। अनेकान्त केवल कल्पना ही नही है, अपितु वह एक तत्त्व-ज्ञान भी है, और आचरण का विषय होने से यह धर्म भी है। अनेकान्त की सार्थकता इसी मे है, कि वह जैसे दूसरे विषयो को सब ओर से तटस्थ रूप से देखने, विचारने और अपनाने के लिए प्रेरित करता है, उसी प्रकार वह अपने स्वरूप और जीवन के विषय मे भी मुक्त मन से ही विचार करने के लिए तैयार रहता है। कल्पना, तत्त्व ज्ञान और धर्म, ये तीनो मानव-जीवन की ऐसी विशेषताएँ है, जो दूसरे किसी के जीवन मे नही मिलती। परन्तु ये तीनो वस्तुएँ एक ही कोटि की या एक तरह के मूल्य वाली नही है। कल्पनाओ की अपेक्षा तत्त्व-ज्ञान का स्थान ऊँचा है। इतना ही नही, परन्तु यह स्थायी और व्यापक भी है। धर्म का स्थान तो तत्त्व-ज्ञान की अपेक्षा बढकर है, क्योकि धर्म तत्त्व ज्ञान का परिणाम—फलमात्र है। विभिन्न व्यक्तियो मे क्षण क्षण मे नयी-नयी कल्पनाएँ

नए रूप में उद्भव होती हैं। ये सभी कल्पनाएं स्थिर तथा सच्ची नहीं होती हैं। अतएव कल्पना करने वाला व्यक्ति भी अनेक बार अपने द्वारा आदृत तथा पुष्ट कल्पनाओं को फेंक देता है, उन्हें बदलता भी रहता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी कल्पनाओं को सत्य की कसोटी पर कसे बिना उनका सेवन तथा पोषण करता रहता है, तो उन कल्पनाओं को न तो दूसरे लोग अपनाते हैं, और न उन्हें स्वीकार ही करते हैं, इसे दुनय कहते हैं।

इसके विपरीत यदि कोई कल्पना सत्य की कसोटी पर कसे जाने पर ठीक उतरती है और उसमें भ्रांति भी नहीं रहती, तो वह कल्पना चाहे जिस काल, चाहे जिस देश और चाहे जिस जाति में उत्पन्न हुई हो, फिर भी वह अपनी सत्यता के कारण सर्वत्र स्वीकृत की जाती है, और स्थायी बन जाती है।

ऐसी स्थिर कल्पनाएं ही तत्त्व-ज्ञान स्वरूप गिनी जाती हैं और वे ही कहीं सीमाबद्ध न रहकर सार्वजनिक या बहुजन ग्राह्य सम्पत्ति बन जाती है। इसी को सुनय कहते हैं। मानवीय परीक्षण शक्ति जिस तत्त्व-ज्ञान को कस करके सत्य रूप से स्वीकार करती है, वही तत्त्व ज्ञान बाद में क्रमश धीमी या तीव्रगति से मानव के आचरण का विषय बनता है, और जो तत्त्व ज्ञान विवेक पूर्वक आचरण में आता है, वही मानव वंश का सच्चा विकासप्रद धर्म बन जाता है। जैन धर्म वैज्ञानिक धर्म है, उसमें काल्पनिक विचारों और काल्पनिक आदर्शों के लिए जरा भी स्थान नहीं है।

दखकर निश्चय कर लेना, और अन्य धर्मा का विचार न करना ही एकान्तवाद है।

आदि के तीन नय—स्व-सिद्धान्त, पर-सिद्धात, और उभय सिद्धान्त, इन तीनो को मानते है। ऋजुसूत्र-नय—स्व-सिद्धान्त और पर-सिद्धान्त, इन दोनो को मानता है, उभय सिद्धात को नही, क्योकि उभय सिद्धात मे जो स्व अश है, वह स्व-सिद्धान्त म गर्भित है और जो पर अश है, वह पर-सिद्धान्त में। इस प्रकार उभय सिद्धात जसी कोई वस्तु नही है।

तीनो शब्द नय केवल स्वसिद्धान्त को मानते हैं, पर-सिद्धान्त और उभय सिद्धात को नही।

उपसहार

जावइया वयण पहा,
तावइया चेव होन्ति णय वाया ।
जावइया णय वाया ,
तावइया चेव पर समया ॥

— सन्मति तर्क—४७,

'जितने प्रकार के वचन मार्ग हैं, उतने ही प्रकार के नय-वाद हैं। और, जितने प्रकार के नय-वाद हैं, उतने ही प्रकार के पर-समय अर्थात् मतान्तर हैं।'

: १४ :

उपसंहार

"सत्त नया जिणेहिं भणिया, जे सद्दहंता सम्मदिट्ठी।
एगे पुण न सद्दहंता, मिच्छा दिट्ठी उ नायव्वा॥"

अर्थात्—जो समुदित सप्त नयों पर श्रद्धा करता है, वह सम्यक्त्व-सम्पन्न है, और जो एक नय को तो मानता है, शेष छह नयों को नहीं मानता या छह नयों को मानता है किन्तु एक नय को नहीं मानता तो वह मिथ्या दृष्टि है।

प्रश्न—जब प्रत्येक नय में सम्यक्त्व नहीं है, तब समुदित हो जाने पर उसमें सम्यक्त्व कैसे हो सकता है?

जबकि बालु के प्रत्येक कण में तेल का सर्वथा अभाव है, तब उन कणों के समुदित हो जाने पर भी उन में तेल का सर्वथा अभाव ही रहेगा। इसका समाधान क्या है?

उत्तर—दृष्टान्त एक-देशी होता है, सर्व-देशी नहीं। जैसे एक परमाणु में कोई संस्थान नहीं होता है, किन्तु उनके स्कन्ध में संस्थान का आविर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार अव्यवस्थित रूप में खड़े हुए अनेक व्यक्तियों में

पक्ति का अभाव है, किन्तु यदि वे सब व्यक्ति क्रम बद्ध खडे हो जाएँ तो तत्काल ही पक्ति का आविर्भाव हो जाता है।

पोदीना, अजवाइन और कपूर—इन तीनो के पृथक्-पृथक् रहने पर उनमे तरलता नही होती है, परन्तु तीनो को एक शीशी मे बन्द कर के यदि धूप मे रख दिया जाए, तो उनका पानी बन जाता है, जिसको अमृत धारा कहते हैं।

मशीन के समस्त कल-पुर्जे अव्यवस्थित तथा अलग-अलग पडे हो, तो किसी भी कल पुर्जे से तज्जन्य कार्य निष्पन्न नही हो सकता, और बन्द मशीन से भी कार्य निष्पन्न नही हो सकता। हाँ, यदि सभी कल पुर्जे यथास्थान व्यवस्थित हो, और साथ ही क्रियावान् भी हो, तो उस मशीन से तज्जन्य कार्य निष्पन्न हो सकता है। विष की सभी किस्म पीडोत्पादक और मारक होती है, किन्तु सुवैद्य उनको मिलाकर एक सजीवनी औषधि बना देता है।

जैसे वैडूर्य-मणियाँ नीलत्वादि गुणयुक्त तथा विष घातक तो है किन्तु वे मणियाँ महामूल्यवान् होते हुए भी यदि अव्यवस्थित पडी हो, तो उन्हे रत्नावली हार नही कहा जाता, किन्तु एक सूत्र मे पिरोने से ही रत्नावली हार कहा जाता है।—१

प्रत्येक नयेषु मिथ्यात्वेऽपि समुदितेषु सम्यक्त्वस्य रत्नावली दृष्टान्तेन समर्थनम्

१—सम्मति तर्क टीका।

इसी विषय को एक अन्य दृष्टान्त के द्वारा समझिए। जैसे बीज शुद्ध हो, खेत भी उपजाऊ हो, मौसम बीज बोने की हो, कृषक सुनिपुण हो, खाद भी डाली जाय, समय-पर वृष्टि भी होती रहे, वायु भी ठीक हो, सूर्य और चन्द्र का शीतोष्ण योग भी हो, भाग्य भी साथ दे रहा हो, तो इन सभी के योग से हर प्रकार की फसल बहुत अच्छी हो सकती है। यदि इनमें से एक कारण भी कम हो जाय तो कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता।

जैसे समस्त असाधारण कारण मिलकर व्यापारवान् होने से ही कार्य सिद्ध होता है, वैसे ही जो विचार किसी एक नय में ओत प्रोत है, किन्तु अन्य छह नयों का उसमें निषेध नहीं है, अर्थात्—कोई भी नय दूसरे नयों से निरपेक्ष नहीं हैं, बल्कि सभी नय परस्पर सापेक्ष हैं, तो सत्य सिद्ध होता है। जो विचार सप्त नयों की परख में ठीक उतर गया, वह विचार सिद्धान्त के रूप में परिणत हो जाता है।

> सर्वे नया अपि विरोधभृतो मिथस्ते।
> सम्भूय साधु-समय भगवन्! भजन्ते॥
> "भूपा इव प्रतिभटा भुवि सार्वभौम-
> पादाम्बुज प्रधन युक्ति-पराजिता द्राक्॥" —१

भगवन्! जिस प्रकार परस्पर विरोध रखने वाले राजा लोग, चक्रवर्ती के चरण सरोज की नत मस्तक होकर सेवा करते हैं और आज्ञा पालन करते हैं, उसी प्रकार ये सातों

१—नय कर्णिका, २२

नय परस्पर विरोध धारण करते हुए भी जब आपके पवित्र शासन की एकीभूत होकर सेवा करते है, तब ये सभी शान्त भाव को धारण कर लेते हैं। क्योंकि आपकी वाणी अनेकान्त का द्योतक "स्यात्" अव्यय पद से अलङ्कृत है, जो परस्पर विरोध को मिटाने वाली है।

अतएव जिस प्रकार विरोध छोडकर राजागण चक्रवर्ती के चरण कमलों की सेवा करते है, उसी प्रकार सातो नय आपके शासन की सेवा करते है, अर्थात्—सातो नयाश्रा समूह आपका मुख्य सिद्धान्त है जोकि जिज्ञासुओ और साधको के लिये मार्ग-प्रदर्शक है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने द्वात्रिंशिका स्तोत्र मे कहा है —

"उदधाविव सर्व-सिन्धव समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टय ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्ववोदधि ।"

हे नाथ ! जैसे समस्त नदियां समुद्र मे आकर मिल जाती है, वैसे ही विश्व के समस्त दर्शन आपके शासन मे आकर मिल जाते हैं। जैसे भिन्न-भिन्न नदियो मे समुद्र नही दिखाई देता, वैसे ही भिन्न भिन्न दर्शनो मे आप दिखाई नही देते, अर्थात्—आपके शासन में सभी दर्शनो का समावेश हो जाता है। परन्तु आपका दर्शन सभी दर्शनो मे समाविष्ट नही हो सकता। यह आपके दर्शन की विशेषता है।

वर्गीकरण

(१) आदि के चार नय द्रव्यार्थिक है, और पीछे के

तीन नय पर्यायार्थिक । यह पक्ष आगम का है।

(२) आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के मत में व्यवहार नय तक द्रव्यार्थिक हैं, और पीछे के चार नय पर्यायार्थिक कहलाते है।

(३) पहला नय दूसरे नय से अधिक विषय वाला है, इसी क्रम से उत्तरवर्ती नय की अपेक्षा पूर्ववर्ती नय अधिक अधिक विषय वाला है।

(४) पहले चार नय अर्थ-प्रधान है, और शेष तीन नय शब्द प्रधान ।

(५) पहले चार नय चारों निक्षेपों को स्वीकार करते हैं, शेष तीन नय केवल भाव-निक्षेप को ही स्वीकार करते हैं। इनकी मान्यता है कि पहले तीन निक्षेप अवस्तु हैं, केवल भाव ही वस्तु है।

(६) पहले नय से दूसरे नय अधिक विशुद्ध है। इसी क्रम से सातों ही नय उत्तरोत्तर विशुद्ध, विशुद्धतर और विशुद्धतम है।

(७) नैगम से लेकर व्यवहार नय पर्यंत व्यवहार नय है। और ऋजुसूत्र से निश्चय नय का आरम्भ होता है, जो एवंभूत तक है, यह मत आचार्य सिद्धसेन का है।

(८) नैगम से ऋजुसूत्र तक व्यवहार-नय है, शब्द से एवंभूत तक निश्चय-नय है, यह मान्यता आगम की है।

सम्यक् श्रुतस्य मिथ्यात्व,
मिथ्यादृष्टि-परिग्रहतात् ।
मिथ्याश्रुतस्य सम्यक्त्व,
सम्यग् दृष्टिग्रहादत ॥

— नयामृत तरंगिणी

अर्थात् मिथ्या दृष्टि द्वारा परिगृहीत सम्यक् श्रुत भी मिथ्यात्व म परिणत हा जाता है, और सम्यग् दृष्टि के के द्वारा परिगृहीत मिथ्या श्रुत भी सम्यक्त्व म परिणत हो जाता है।

प्रश्नोत्तर

इन चारों द्रव्यों में पाचों का साझा है, या ये चारों द्रव्य अलग-अलग पाचों के पास हैं। अतः यह कहना चाहिए कि प्रदेश पाच प्रकार के होते हैं, अर्थात्—धर्म के प्रदेश, अधर्म के प्रदेश आदि।

(४) **ऋजुसूत्र नय**—यह नय व्यवहार-नय से कहता है—'ऐसा मत कहो कि प्रदेश पाँच प्रकार के हैं,' क्योंकि उक्त कथन से यह भी आशय निकल सकता है कि पाँचों के प्रदेश पाच-पाँच प्रकार के हैं। इस तरह कहने से तो पच्चीस प्रदेशों की संभावना हो सकती है। अतः यह कहना चाहिए कि प्रदेशों की भजना है। जैसे कि कथंचित् धर्म-प्रदेश, कथंचित् अधर्म प्रदेश, कथंचित् आकाश-प्रदेश, यावत् कथंचित् स्कन्ध-प्रदेश।

(५) **शब्द-नय**—यह नय ऋजुसूत्र से कहता है—'आपके कहने से यह भी सिद्ध हो सकता है कि जो प्रदेश धर्म का है, वह कदाचित् अधर्म का भी हो सकता है। और जो प्रदेश अधर्म का है, वह कभी आकाश का भी हो सकता है। परन्तु ऐसा कहने से अनवस्था दोष उपस्थित हो जाएगा। अतः इसके स्थान पर इस प्रकार कहना चाहिए-"धम्मे पएसे"—धर्म-प्रदेश, अर्थात्-'धर्मात्मक प्रदेश।

प्रश्न—यह धर्म-प्रदेश अखण्ड धर्मास्तिकाय से भिन्न है, या अभिन्न?

उत्तर—'से पएसे धम्मे', अर्थात् धर्म संप्रदेश धर्मास्तिकाय एक ही द्रव्य है। धर्म प्रदेश सकल धर्मास्तिकाय

से भिन्न नहीं है, अतः धर्म प्रदेश धर्मात्मक ही है।

प्रश्न—जैसे जीव के एक प्रदेश को भी 'जीव' कहते हैं, वैसे ही धर्म के एक प्रदेश को 'धर्म' क्यों नहीं कहा जाता?

उत्तर—एक जीवास्तिकाय में जीव-द्रव्य परस्पर भिन्न तथा अनन्त हैं। वह प्रदेश समस्त जीवास्तिकाय एक देश होने से जीवात्मक है। ऐसा हम कह सकते हैं, क्योंकि नो-जीव में 'नो' शब्द देशवाची है, अर्थात्—एक जीव सकल जीवास्तिकाय का एक देश है। जो एक जीवद्रव्यात्मक प्रदेश है, वह अनन्त जीवद्रव्यात्मक समस्त जीवास्तिकाय में कैसे रह सकता है? इसी प्रकार नो स्कन्ध को भी समझ लेना। क्योंकि स्कन्ध द्रव्यों के अनन्त होने से एक देशवर्ती को 'नो स्कन्ध' कहते हैं।

(६) समभिरूढ-नय—यह नय शब्द नय को सम्बोधित करते हुए कहता है कि—तुम्हारा कथन भी पूर्ण सत्य नहीं है। क्योंकि 'धर्म प्रदेश' इस समस्त पद में दो समासों की सम्भावना हो सकती है—तत्पुरुष और कर्म-धारय। यदि 'धर्म' शब्द से सप्तम्यन्त पद ग्रहण किया जाय, तो 'धर्म प्रदेश', यह वाक्य सप्तमी तत्पुरुष का आरम्भक बन जाता है। जैसे—'वने हस्तीति वनहस्ती,' इस पद में भेद-वृत्ति है। अर्थात्—'वन में' यह पदार्थ भिन्न है, और 'हस्ती' यह पदार्थ भिन्न। जैसे—'वनहस्ती,' पद में भेद स्पष्टतया मालूम होता है, वैसे ही 'धर्म-प्रदेश' पद में भी यही अर्थ सिद्ध होता है कि—'धर्म' में प्रदेश है। यहाँ धर्म 'आधार' है, और प्रदेश 'आधेय'। आधार और आधेय में

एक बढ़ई कुल्हाडी लेकर अटवी की ओर जा रहा था। उसे देखकर किसी ने पूछा कि—श्रीमान् जी, कहा जा रहे हैं ?

उसने उत्तर दिया—मै प्रस्थक लेने जा रहा हूँ।

काष्ठ छेदते समय भी किसी ने उससे पूछा—क्या छेद रहे हो ?

बढई ने उत्तर दिया—मै प्रस्थक छेद रहा हूँ।

इसके बाद प्रश्न-कर्त्ता ने पूछा—यह क्या बना रहे हो ?

बढ़ई उत्तर देता है—मै प्रस्थक बना रहा हूँ।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर की दृष्टि से बढई ने पहला उत्तर 'अविशुद्ध नैगम' के अनुसार दिया और अन्तिम उत्तर 'विशुद्ध नैगम' से दिया है।

इस सम्बन्ध मे संग्रह-नय यह मानता है कि—जब प्रस्थक को धान्य की राशि पर धान्य मापने के लिए रखा जाए, तभी उसे 'प्रस्थक' कहना चाहिए। परन्तु व्यवहार-नय यह मानता है कि—जब वह 'प्रस्थक' कही घर मे रखा हो या अन्यत्र कही भी, अर्थात्—उससे काम नही लिया जा रहा हो, तब भी लोक-व्यवहार से उसे प्रस्थक' ही कहेगे।

अन्त मे ऋजुसूत्र-नय बोलता है कि—प्रस्थक को तो 'प्रस्थक' कहते ही हैं, किन्तु जो धान्य प्रस्थक से मापा गया है, उसे भी 'प्रस्थक' कहते हैं। जैसे पसेरी को तो 'पसेरी' कहते ही हैं, किन्तु उस पसेरी से तुले हुए धान्य को भी 'पसेरी' कह सकते हैं, क्योंकि तुलाई के लिए वह भी एक माप है। इसी प्रकार विवक्षित भाजन और उससे मापा

हुआ भाव, दोनों ही 'प्रस्थक' कहलाते हैं।

अन्तिम तीन शब्द-नयों की यह युक्त मान्यता है—प्रस्थक के स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति 'प्रस्थक' कहलाता है। और जिसका उपयोग 'प्रस्थक' में लगा हुआ है, वह व्यक्ति उतने समय तक 'प्रस्थक' कहलाता है, क्योंकि उपयोग ही जीव का असाधारण लक्षण है। ये तीन नय तो केवल भाव-निक्षेप को मानते हैं। अतः इन्हें 'भाव प्रधान नय' भी कहते हैं। भाव-प्रधान होने से 'भाव प्रस्थक' को ही चाहते हैं। भाव प्रस्थक उपयोग रूप ही होता है अर्थात्—जिस विषय में उपयोग परिणत हो रहा है उससे भिन्न जीव का कोई अस्तित्व नहीं है। जब उपयोग भाव प्रस्थक में लगा हुआ होगा, तभी वह प्रस्थक कहा जाता है अन्यथा नहीं।

उनका यह भी कहना है कि—'सर्वं वस्तु स्वात्मन्येव वर्तते' अर्थात्—समस्त पदार्थ आत्मा में ही हैं। जिसका जिस समय और जिस वस्तु में उपयोग लगा हुआ है, वह उस समय उसी वस्तु के रूप में माना जाता है, क्योंकि अन्य वस्तु का आधार अन्य वस्तु नहीं हो सकता। साथ ही प्रस्थक निश्चयात्मक ज्ञान है, और निश्चय ज्ञान रूप होता है अतः वह ज्ञान जड़-रूप काष्ठ के भाजन में कैसे अनुभूत हो सकता है? क्योंकि 'चेतन' और 'अचेतन', इन दोनों का अधिकरण समान नहीं हो सकता। अतः प्रस्थक में उपयुक्त आत्मा भी 'प्रस्थक' ही कहलाता है। इसी प्रकार आगम में उपयुक्त आत्मा भी 'आगम' कहलाता है, और चारित्र में उपयुक्त—चारित्रात्मा, ज्ञान में उपयुक्त—ज्ञाना-

विभागो में रहते हैं ?

उत्तर—मैं दक्षिणार्द्ध में रहता हूँ।

प्रश्न—दक्षिणार्द्ध भरत में भी तीन खण्ड हैं। तो क्या, आप तीनों खण्डों में रहते हैं ?

उत्तर—मैं मध्य खण्ड में रहता हूँ।

प्रश्न—मध्य खण्ड में भी अनेक ग्राम, नगर, और नगरियाँ हैं, तो क्या, आप उन सब में रहते हैं ?

उत्तर—मैं पाटलीपुत्र में रहता हूँ।

प्रश्न—पाटलीपुत्र नगर में तो हजारों घर हैं, तो क्या आप उन सब में रहते हैं ?

उत्तर—मैं देवदत्त के घर में रहता हूँ।

प्रश्न—देवदत्त का घर तीन मंजिल का है। तो क्या, आप तीनों मंजिलों में रहते हैं ?

उत्तर—मैं बीच की मंजिल में रहता हूँ।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर में सबसे पहला उत्तर 'अविशुद्ध नैगम' से दिया है। अन्तिम उत्तर 'विशुद्ध नैगम' में, और शेष सभी उत्तर 'विशुद्धाविशुद्ध नैगम' में समझने चाहिएँ। क्योंकि पूर्व की अपेक्षा पर नैगम विशुद्ध है और 'पर' की अपेक्षा पूर्व नैगम अविशुद्ध है। इसी कारण इसे 'विशुद्धाविशुद्ध नैगम' कहते हैं।

संग्रह नयानुयायी का कहना है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी कमरे में व्यापक रूप से नहीं रह सकता, अतः ऐसा कहना चाहिए कि—मैं अपनी शय्या में रहता हूँ।

इस पर व्यवहार नयानुसारी कहता है कि इस विषय

मे जो नगमोक्त है, वह मेरे सम्मत है। जैसे—मकान मालिक जिस कमरे मे रहता हो, व्यवहार से यही कहना पडता है कि—वह अमुक नम्बर वाले कमरे मे रहता है। चाहे वह कार्यवश ग्रामादि मे ही गया हुआ हो, फिर भी पूछने वाले को यही उत्तर दिया जाता है—इस कमरे मे रहता है। पोस्टमैन भी कार्ड, लिफाफा आदि किवाडो के छिद्र से अन्दर डाल देता है, और बाहर से मिलने वाले भी वही पहुँचते हैं। अथवा—

शय्या मे जितने स्थान को शरीर रोकता है, कोई भी व्यक्ति वस्तुत उतने ही स्थान मे रह सकता है। शय्या का शेष स्थान खाली ही पडा रहता है।

इस सम्बन्ध मे ऋजुसूत्र नय की यह मान्यता है कि—आत्मा जिन आकाश प्रदेशो का अवगाहन कर रहा है, उन्ही प्रदेशो मे वह रह रहा है।

शब्द, समभिरूढ, और एवभूत—इन तीनो को 'शब्द-नय' कहते है। इन तीनो का मन्तव्य है कि—समस्त पदार्थ आत्म भाव मे अवस्थित है, और आत्मा अपने मे अवस्थित है, किसी अन्य द्रव्य मे नही।

पञ्च संवर

अत्यन्त-निशित-धारं,
दुरासदं जिन-वरस्य नय-चक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं,
मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥

— आचार्य अमृतचन्द्र

"जिन भगवान् के नय-चक्र को समझना सरल नहीं है, क्योंकि वह अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला है। जो अज्ञ-जन बिना समझे बूझे ही इसको धारण करने का दुस्साहस करेगा, वह अपना हित साधने में सर्वथा असफल रहेगा।"

साधक यदि गृहस्थ होता है, तो वह गृहस्थावस्था में
हुए भी विश्व मैत्री और विश्व-प्रेम को अपनाने का
शक्य प्रयास कर सकता है।

साथ ही उसकी यह मान्यता भी रहती है कि—किसी भी
को सताना, दम्भ करना, धोखा देना, चुगली करना,
दा करना, गाली देना, किसी का बुरा चाहना, तथा किसी
कलंक चढ़ाना आदि भी हिंसा है। दबे हुए कलह को
ाड़ना, किसी पर अन्याय होते देखकर खुश होना,
था शक्ति होने पर भी अन्याय को न रोकना भी हिंसा
धूर्तता से किसी का वचन बद्ध करना या किसी को
तरह बाँधना भी हिंसा है। क्रोधवश किसी को बुरी
पीटकर घायल करना या किसी भी जीव का कोई
-उपाङ्ग काट डालना भी हिंसा है।

किसी मजदूर पर किसी पशु पर, या किसी कुली पर
क भार लादना भी हिंसा है। किसी पर कर्ज का अधिक
लादना भी हिंसा है। कन्या-पक्ष पर अधिक दहेज तथा
सरथक वर-यात्री ले जाने आदि का अधिक भार लादना भी
ा है। अपने आश्रित मनुष्य पशु-पक्षी आदि जो भी
उन्हें भूखे प्यासे रखना, दास-दासियों का समय पर
ने-पीने की सुविधा न देना, और श्रमजीवी को समय पर
थोचित पारिश्रमिक न देना भी हिंसा है। शक्ति होने पर
अन्याय को न रोकना और आलस्य में पड़े रहना भी
ा है। बड़ों की विनय न करना और छोटों से प्रेम न
ना भी हिंसा है। इन सभी से यथाशक्ति बचना ही

अवस्था में ही सम्भव है, क्योंकि अप्रमत्त अवस्था ही वास्तविक अहिंसा है। इस विषय में प्रश्न व्याकरण सूत्र में अहिंसा के साठ नाम भगवान् ने प्रतिपादित किये हैं, जिनमें अप्रमाद भी उसी का एक नाम है। जहाँ-जहाँ प्रमत्तता है वहाँ वस्तुतः सूक्ष्म छिद्र रह जाते हैं। और जहाँ आश्रव है वहाँ कर्म बन्धन चालू रहता है। अतः अप्रमत्तता ही वास्तविक अहिंसा है।

(६) समभिरूढ-नय

अप्रमत्त गुण-स्थानों में भी मोहनीय कर्म का उदय भी रहता है। और जहाँ मोहनीय का उदय है वहाँ अध्यवसाय विशुद्ध नहीं होते। अध्यवसाय की विशुद्धि के बिना अहिंसा का पालन विशुद्ध नहीं होता। अतः ऐसा कहना चाहिए कि सच्ची अहिंसा तो वीतराग अवस्था में ही है, और यथाख्यात चारित्र में है।

(७) एवंभूत-नय

वीतराग अवस्था में भी मानस-योग और काय-योग रहता है। और जहाँ योग है, वहाँ ईर्यापथिक क्रिया अनिवार्य है। अतः ऐसा कहना चाहिए कि—सच्ची अहिंसा अयोगी केवली में है, अलेशी में है, और अक्रिय में है क्योंकि वही अवस्था पूर्णतया अकम्पक है।

सत्य

(१) नगम-नय

संसार भर में जितने भी मत मतान्तर हैं, उनमें यत् किंचित् सत्य अवश्य है। सत्य के बिना किसी भी मत का आविष्कार नहीं हो सकता, फिर चाहे वह सत्य सिद्धान्त रूप में हो उपदेश रूप में हो, या इतिहास रूप में ही क्यों न हो। सत्य बोलने के लिए सभी मत प्रवक्ताओं ने लेखों के द्वारा और भाषणों के द्वारा आज्ञा प्रदान की है। अपने अनुयायी जनों के हितार्थ सत्य की शिक्षाएँ दी जाती हैं और सत्यवादियों के लिए पारितोषिक भी दिये जाते हैं। सत्य का समर्थन सभी मतानुयायी करते हैं, सभी मत-मतान्तरों के ग्रन्थों में सत्य की महिमा, सत्य के गीत, सत्य की स्तुति, सत्य की शिक्षाएँ, सत्य की आराधना, सत्य की पूजा, और सत्य का सहर्ष समर्थन आदि के लिए पुरजोर आज्ञा प्रदान की गई है।

धार्मिक संघ के अतिरिक्त राजनीति के क्षेत्र में भी सत्य का स्थान बहुत ऊँचा है। सभी राज्याधिकारियों और कर्मचा-

प्रकार हैं—

(क)—जो व्यक्ति गुस्से का निमित्त होने पर भी गुस्सा नहीं करता, उसी का जीवन सत्य कहलाता है। क्योंकि क्रोध के वश झूठ बोला जाता है, चुगली खाई जाती है, कठोर वचन बोला जाता है, कलह हो जाता है। और परस्पर युद्ध छिड जाता है, शान्ति और क्षमा का भग होता है तथा नियम एव उपनियमो मे भी दोष लग जाते हैं, और प्रतिज्ञा भी भग हो जाता है।

(ख)— जो व्यक्ति लोभ का निमित्त होने पर भी लोभ नहीं करता, वह सत्यवादी हो सकता है अर्थात्-किसी वस्तु विशेष के लिये झूठ बोला जा सकता है, अन्न-पानी के लिए भी झूठ बोला जाता है। और पटटा चौकी के लिए, वस्त्र-पात्र के लिए शिष्य आदि के लिए लाभ और सत्कार के लिए, प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए अथवा अन्य किसी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए भी झूठ बोला जा सकता है। अत [illegible] को हर समय सतोषी बनना अनिवार्य है।

(ग)—जो व्यक्ति जितना निर्भीक होगा, उतना ही वह सत्यवादी बन सकता है। क्योकि भय मे भी झूठ बोला जाता है, भयभीत व्यक्ति ही भूतो से पकडा जाता है, वह स्वय डरता है और दूसरो को भी डराता है। भय से तप, सयम भक्ति और उपासना आदि सब कुछ छूट जाता है, भयभीत व्यक्ति सत्पुरुषो का अनुसरण भी नहीं कर सकता। अत सत्य की आराधना के [illegible] होना नितान्त आवश्यक है

क्योंकि निर्भीक व्यक्ति ही व्याधि, रोग, जरा, मृत्यु आदि में भय नहीं करता।

(घ)—जो व्यक्ति किसी की हँसी-मजाक नहीं करता, वह सत्यवादी बन सकता है। दूसरों की हँसी करने से अवहेलना और अपमान होता है, आपस में लड़ाई भी हो जाती है। यहाँ पर यह लोकोक्ति अक्षरशः चरितार्थ हो जाती है 'रोग का मूल खांसी, और लड़ाई का मूल हाँसी।' जब तक शब्द में झूठ की पुट न दी जाए, तब तक मजाक की भूमिका नहीं बनती, अतः हँसी-मजाक में झूठ बोला ही जाता है। प्रायः सत्यवादी के लिए हँसी-मखौल वाले मनोरंजन का परित्याग करना आवश्यक है।

(ङ)—जो व्यक्ति, प्रत्येक विषय पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर बोलता है, वह सत्यवादी बन सकता है। जब भी बोले तब अच्छी तरह सोच समझ कर बोले, और साथ ही शीघ्रता, चपलता, कटुता आदि दोषों से मुक्त होकर बोले। 'सत्यपूतं शास्त्रपूतंच वदेद् वाक्यम्'' अर्थात्—जिससे सत्य का शील का, और विनय का हनन हो, वैसा वचन कभी न बोले। और जो हाथ, पांव, नयन तथा मुख, इन कर्मेन्द्रियों को वश में कर लेगा, वह सत्यवादी बन सकता है।

उपर्युक्त समस्त उपायों को जो अपना लेता है, अर्थात्—जिससे सत्य की पुष्टि हो, उसमें प्रवृत्ति करना, और जिससे सत्य की हानि हो, उससे निवृत्ति करना ही सत्यवादिता है। सत्य की यह परिभाषा ऋजुसूत्र नय की है। यदि कोई

व्यक्ति सत्य की परिभाषा ऊपर वर्णित तरीकों से करता है, तो वह ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से समझनी चाहिए।

(५) शब्द नय

इस नय के मतानुसार आगम में चार प्रकार का सत्य बतलाया है, जैसे—(क) नाम सत्य (ख) स्थापना-सत्य, (ग) द्रव्य-सत्य, और (घ) भाव-सत्य।

इनमें शब्द-नय को केवल भाव सत्य ही अभीष्ट है। नाम-सत्य, स्थापना सत्य द्रव्य सत्य ये तीन प्रकार के सत्य सर्वथा अस्वीकृत हैं।

भाव-सत्य की मान्यता भी केवल अप्रमत्त तथा कल्पातीत अवस्था में ही है। प्रमत्त अवस्था में तो वह भाव-सत्य भी दोष पूर्ण है सातिचार है और अशुद्ध है।

अप्रमत्त अवस्था में भी भाव-सत्य वर्द्धमान परिणाम और अवस्थित परिणाम में पाया जाता है। हायमान परिणाम में वही भाव-सत्य निर्दोष नहीं है। सत्य के विषय में ऐसा निरूपण शब्द नय की दृष्टि से समझना चाहिए।

(६) समभिरूढ-नय

जहाँ तक साम्परायिक क्रिया का सम्बन्ध है, वहाँ तक परिणाम चाहे वर्द्धमान हो, और चाहे अवस्थित हो, भाव-सत्य सदोष है। क्योंकि जहाँ तक मोहनीय कर्म का उदय सूक्ष्म रूप से भी चालू है वहाँ तक सत्य पूर्ण विकसित एवं निर्दोष नहीं हो सकता। अतः ऐसा कहना चाहिए कि—जो भाव सत्य वीतरागता में पूर्णतः विकसित होता है और

जो मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों से सर्वथा रहित भी हो, वही सत्य निर्दोष हो सकता है। इस प्रकार सत्य की संक्षिप्त परिभाषा समभिरूढ नय की दृष्टि से समझनी चाहिए।

(७) एवंभूत-नय

वीतरागता तो ग्यारहवें और बारहवें गुण स्थान में भी होती है, परन्तु वहां पर भी एकान्त सत्य योग नहीं होता। उन गुण स्थानों में भी ये चार योग पाए जाते हैं—असत्य मन योग, मिश्र मन-योग असत्य वचन-योग, और मिश्र वचन योग। अतः सत्य की परिभाषा इस प्रकार करनी चाहिए—

घातिया कर्मों के सर्वथा क्षीण हो जाने से ही सत्य का सर्वाङ्गीण विकास होता है। सर्वाङ्गीण विकास का अर्थ है—जिसके आगे और कोई दूसरा विकास न हो—'यत्सत्यान्नापरं सत्यम्', अर्थात्—कुछ न्यून सत्य को भी एवंभूत नय सत्य नहीं मानता, केवल पूर्ण एवं अखण्ड सत्य को ही सत्य मानता है। और वह अखण्ड सत्य तो केवल ज्ञान के साथ ही प्रकट होता है। सर्व प्रथम—'तं सच्चं खु भगवं''—यह पाठ तभी चरितार्थ होता है, जब कि वह आत्मा अखण्ड सत्यमय हो जाता है। बस, वही अवस्था भगवत्पदवी की है, यह कथन एवंभूत नय की दृष्टि से अभिप्रेत है।

अस्तेय

(१) नैगम-नय

जिसका जीवन नैतिकता और व्यावहारिकता में ओत-प्रोत हो, जिसकी कीर्ति एवं प्रतिष्ठा विश्व भर में खूब बढ़ी-चढ़ी हो, जो अनेक संस्थाओं का स्तम्भ एवं संरक्षक भी हो, जो राष्ट्र सेवा, जन सेवा, समाज सेवा, ग्राम सुधार तथा नगर-सुधार आदि का महान् उत्तरदायित्व भी अपने कंधों पर लिए हो, जो अपना तन मन और धन राष्ट्र-सेवा में बलिदान करता हो, जो सदा अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता, सुदृढ़ता और समृद्धि के लिए निरन्तर कटिबद्ध हो, और अपनी कमाई में से यथाशक्य जन हितार्थ दान भी करता हो, इत्यादि शुभ लक्षणों से जाना जाता है कि—वह अचौर्य व्रत का पालक है। फिर चाहे वह मिथ्या दृष्टि भी क्यों न हो, किन्तु नैगम नय की दृष्टि से तो वह अचौर्यव्रत पालक ही है। क्योंकि जो मनुष्य तथा कथित गुणों से सम्पन्न है, वह कभी भी चोरी नहीं करता। इसी लिए वह अचौर्य-व्रत प्रतिपालक कहलाता है। फिर चाहे वह गृहस्थ हो

क्यो न हो, किन्तु अचौर्य के विषय मे इस प्रकार की परि-भाषा प्रस्तुत करना, यह नगम नय का दृष्टिकोण है।

(२) सग्रह-नय

जो व्यक्ति राज-दण्ड के भय से, जाति-बिरादरी के भय से, किसी बलवान् आदमी के द्वारा प्राणो की हानि के भय से, अथवा अपने परिवार की बेइज्जती के भय से चोरी नही करता, और पराई वस्तु का हरण भी नही करता उसे अचौर्य व्रत प्रतिपालक नही कहा जा सकता है। फिर चाहे वह महात्मा या सन्यासी ही क्यो न हो, जब तक उसके मन और मस्तिष्क मे मिथ्यात्व प्रकृति का प्रभाव है, तब तक वह अचौर्य-व्रत का प्रतिपालक नही हो सकता। इस व्रत की आराधना केवल सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है, अर्थात्—जिसकी दृष्टि सम्यक् हो सत्य हो और जो चोरी को पाप समझ कर स्वय छोड देता है। और इस कार्य मे किसी प्रकार के भय से, या प्रलोभन से प्रभावित नही होता, वही अचौर्य-व्रत का धारक हो सकता है।

परन्तु जिसकी दृष्टि केवल बाह्य जगत मे उलझी हुई हो, वह चाहे कितना ही पडित हो और कितना ही ज्ञानी भी क्यो न हो—वह मिथ्या दृष्टि कहलाता है। वस्तुत मिथ्यात्व अविवेकता एव अविद्या का 'अपर नाम' है। अवि-वेकिता मे आत्मा के विशिष्ट गुण प्रकट नही हो सकते क्योकि अचौर्य आत्मा का विशिष्ट गुण है और विशिष्ट गुण ही आत्मा की उन्नति तथा सर्वतोमुखी विकास मे परम सहायक

हो सकता है। आत्मा के जो सामान्य गुण हैं, उनका मिथ्यात्व के उदय म भी ह्रास और विकास होता ही रहता है। यह अनादि नियम है। अत पर वस्तु के हरण को पाप समझ कर परित्याग करना ही अचौर्य है। अचौर्य के विषय म इस प्रकार की व्याख्या सग्रह नय की दृष्टि से समझनी चाहिए।

(३) व्यवहार-नय

दृष्टि सम्यक होते हुए भी यदि अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होता है, तो पाप को पाप समझते हुए भी अचौर्य-व्रत का आराधक नही हो सकता, क्योंकि दृष्टि ठीक होते हुए भी प्रकाश के बिना अधेरे म भटकना ही पडता है। अत दृष्टि ठीक होते हुए भी जिस प्रकार प्रकाश की अत्यावश्यकता रहती है, उसी प्रकार दृष्टि सम्यक् होते हुए भी यदि अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का उदय होता है तो वह कषाय चतुष्क स्वच्छ गगन-युक्त अमावस्या रात्रि के तुल्य समझना चाहिए। अत स्पष्ट शब्दो म यह कहना चाहिए कि—अरिहत भगवान् ने गृहस्थो के लिए जिस मोटी चोरी का त्याग बतलाया है, उसका त्याग कम स कम दो करण और तीन योग से होना चाहिए, अर्थात्—ऐसी मोटी चोरी न तो स्वय अपने ही मन, वचन और काय से करे, और न दूसरो के मन, वचन और काय से कराए जैसे—किसी के घर म या दूकान म सेंध न लगाना, किसी की गाँठ न कतरना, किसी को धूर्तता से न ठगना,

मार्ग में आते-जाते किसी मुसाफिर को न लूटना, पड़ी हुई वस्तु न उठाना, चुराई हुई वस्तु न लेना, चोर आदि को सुविधा या सहयोग न देना और जो राज्य-विधान प्रजा के लिए ... भंग न करना, जैसे—चुँगी-कर न देना, ... तथा ... टैक्स न देना, ब्लैक मार्केट करना, ... जूआ खेलना, बिना लाईसेन्स के हथियार ... बीड़ी पीना, शराब पीना, पर-स्त्री गमन, ... में लिप्त रहना। राज्य-विधान को भंग ... प्रकार की चोरी है। अत राज्य विरोधी ... न करना, न्यूनाधिक न तोलना और न न्यूनाधिक ... चाहिए। असली वस्तु में नकली वस्तु ... में धूल डालना भी चोरी है, अत यह वर्जित होना चाहिए। किसी पर अकारण आक्रमण भी न करना चाहिए। जिस प्रान्त में जो पुस्तक जब्त हो चुकी है, उसी प्रान्त में उन पुस्तकों को रखना और उन्हें पढ़ना भी चोरी है। क्योंकि वे किताब छिपाकर ही रखी जाती है और छिपकर ही पढ़ी जाती है, मन में सदैव खटका ही बना रहता है। गाय, भैंस, बकरी आदि का स्वार्थ वश अधिक दूध दोहना भी चोरी है, क्योंकि स्वार्थपरता के कारण दोहन किया अधिक दूध पशु के बच्चे का ही न्यायोचित भाग है। अत इस प्रकार की स्वार्थ पूर्ति न केवल चोरी ही है, बल्कि पशु के बच्चे को भूखा मारने की दुस्साहसिक अनैतिकता भी है। और यह अनैतिकता अहिंसावादियों के लिए, गौ रक्षकों के लिए तथा जीव-रक्षा व्रत पालकों के

किया गया है, उससे अधिक समय लेना भी चोरी है। आज्ञा लिए बिना किसी वस्तु को परोक्ष रूप में देख लेना भी चोरी है। संयम के मार्ग में उद्यम न करके आलस्य और प्रमाद प्रकट करना, बार बार विषयों का सेवन करना, तप में अरुचि प्रकट करना, और स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न करना भी चोरी है। दीक्षित साधु को संयम के पथ से भ्रष्ट करना भी चोरी है।

कृतघ्नता भी एक प्रकार की चोरी है। जादू-टोना और धागा तावीज बनाना भी चोरी है। किसी खेल-तमाशे को या किसी काम वर्द्धक वातावरण को छिपकर देखना भी चोरी है। किसी की कविता में या किसी के निबंध में अपना नाम जोड़ना भी चोरी है। अपने पास आवश्यकता से अधिक उपकरण होते हुए दूसरे को अत्यन्त आवश्यकता होने पर न देना भी चोरी है। दान देते हुए को अन्तराय देना भी चोरी है। जितनी भूमि की आज्ञा ली है, उससे अधिक अपने काम में लेना भी चोरी है। चतुर्विध श्री संघ की समृद्धि के लिए बनाए गए विधान को तोड़ना भी चोरी है। आचार्य, गुरू या रत्नाधिक की बिना आज्ञा से किसी पदार्थ को प्राप्त करना, और उसे बिना दिखाए सेवन कर लेना भी चोरी है। रसोईघर में रसोईया प्रायः क्यारियाँ बनाकर मर्यादा बनाता है, उस मर्यादा का उल्लंघन करके अन्दर जाना भी चोरी है।

उपर्युक्त सभी प्रकार की चोरियों से निवृत्ति प्राप्त कर लेना ही अचौर्य महाव्रत का परिपूर्ण पालन है।

(५) शब्द-नय

जो व्यक्ति दूसरे की यश प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार एव मान सम्मान को स्वय प्राप्त करना चाहता है, वह महाव्रती भी चोरी के दोष से अछूता नही है। जैसे कि चोरी पाँच प्रकार की होती है—

(क) तप-चोर—तप कोई दूसरा करे और तपस्वी आप कहलावे—गुप्त रूप मे खाना खाए और प्रकट रूप मे तपस्वी कहलावे। कोई दर्शनार्थी किसी दुर्बल मुनि को देखकर भाव प्रवण शब्दो मे ऐसा बोले—धन्य मुनि की तरह दुष्कर करनी करने वाले आप ही है क्या? और उत्तर देते हुए यदि ऐसा कहे—साधु तो सदैव ही तपस्वी होते है। तपस्वी न होते हुए भी तपस्वी की प्रतिष्ठा लूटने से महामोहनीय कर्म बँधता है। अत जो 'तप चोर' होता है, वह किल्विषी देवता बनता है।

(ख) वय चोर—दो मुनि विचर रहे हैं। एक वय मे युवक है किन्तु पर्याय मे ज्येष्ठ और दूसरा मुनि वय मे वृद्ध है किन्तु पर्याय मे कनिष्ठ। दर्शनार्थी श्वेत केश देखकर यह पूछे कि—बडे महाराज क्या आप ही हैं? इसका उत्तर देते हुए कहे कि—साधु तो हमेशा बडे ही होते हैं, अर्थात्—बडे साधु की प्रतिष्ठा आप स्वय प्राप्त करना। इसे 'वय चोर' कहते है।

(ग) रूप-चोर—एक जैसा रूप, एक जैसा डीलडौल, एक जैसा नाम, एक जैसा वेष दो मुनियो का है। उनमे एक प्रसिद्ध एव प्रतिष्ठित है, और दूसरा अप्रसिद्ध एव अप्रतिष्ठित। एक प्रश्नकर्ता ने पूछा क्या आप वही हैं, जिनकी कीर्ति विश्व

मम अधिक समय लेना भी चोरी है। आज्ञा ... वस्तु को परोक्ष रूप में देख लेना भी चोरी है। ... में उद्यम न करके आलस्य और प्रमाद ... विषयों का सेवन करना, तप में ... और स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न करना भी चोरी है। दीक्षित साधु को सयम के पथ से भ्रष्ट करना भी चोरी है।

कृतघ्नता भी एक प्रकार की चोरी है। जादू-टोना और ... बनाना भी चोरी है। किसी खेल-तमाशे को या किसी काम उद्दक वातावरण को छिपकर देखना भी चोरी है। किसी की कविता में या किसी के निबन्ध में अपना नाम जोड़ना भी चोरी है। अपने पास आवश्यकता से अधिक उपकरण होते हुए दूसरे को अत्यन्त आवश्यकता होने पर न देना भी चोरी है। दान देते हुए को अन्तराय देना भी चोरी है। जितनी भूमि की आज्ञा ली है, उससे अधिक अपने काम में लेना भी चोरी है। चतुर्विध श्री सघ की समृद्धि के लिए बनाए गए विधान को तोड़ना भी चोरी है। आचार्य, गुरु या रत्नाधिक की बिना आज्ञा से किसी पदार्थ को प्राप्त करना, और उसे बिना दिखाए सेवन कर लेना भी चोरी है। रसोईघर में रसोईया प्राय क्यारियाँ बनाकर मर्यादा बनाता है, उस मर्यादा का उल्लघन करके अन्दर जाना भी चोरी है।

उपर्युक्त सभी प्रकार की चोरियों से निवृत्ति प्राप्त कर लेना ही अचौर्य महाव्रत का परिपूर्ण पालन है।

(५) शब्द-नय

जो व्यक्ति दूसरे की यश प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार एव मान सम्मान को स्वय प्राप्त करना चाहता है, वह महाव्रतों की चोरी के दोष से अछूता नही है। जैसे कि चोरी पांच प्रकार की होती है—

(क) तप-चोर—तप कोई दूसरा करे और तपस्वी आप कहलाये—गुप्त रूप मे खाना खाए और प्रकट रूप मे तपस्वी कहलावे। कोई दर्शनार्थी किसी दुर्बल मुनि को देखकर भाव प्रवण शब्दो मे ऐसा बोले—धन्य मुनि की तरह दुष्कर करनी करने वाले आप ही है क्या? और उत्तर देते हुए यदि ऐसा कहे—साधु तो सदैव ही तपस्वी होते है। तपस्वी न होते हुए भी तपस्वी की प्रतिष्ठा लूटने से महामोहनीय कर्म बंधता है। अत जो 'तप चोर' होता है, वह किल्विषी देवता बनता है।

(ख) वय चोर—दो मुनि विचर रहे हैं। एक वय मे युवक है किन्तु पर्याय मे ज्येष्ठ, और दूसरा मुनि वय मे वृद्ध है किन्तु पर्याय मे कनिष्ठ। दर्शनार्थी श्वेत केश देखकर यह पूछे कि—बडे महाराज क्या आप ही हैं? इसका उत्तर देते हुए कहे कि—साधु तो हमेशा बडे ही होते हैं, अर्थात्—बडे साधु की प्रतिष्ठा आप स्वय प्राप्त करना। इसे 'वय चोर' कहते हैं।

(ग) रूप-चोर—एक जैसा रूप, एक जैसा डीलडौल, एक जैसा नाम, एक जैसा वेष दो मुनियो का है। उनमे एक प्रसिद्ध एव प्रतिष्ठित है, और दूसरा अप्रसिद्ध एव अप्रतिष्ठित। एक प्रश्नकर्ता पूछता क्या आप वही हैं, जिनकी कीर्ति

भर म फल ्हो है ? ऐमा सुनकर मौन धारण करे या ऐसा कहे—साधु ना लग्व प्रनिष्ठ होते हैं। ऐसा गोलमोल जवाब दना कि जिमस पूछन वाले का ऐसा प्रतीत हो कि यह वही है जिनके दान म करना चाहता था। इसे 'रूप चोर' कहते ह।

(घ) आचार-चोर—शुद्धाचारी न होते हुए भी अपने आपको शुद्धाचारी कहे गुप्त रीति से अनाचार सेवन करना किन्तु जनता के समक्ष क्रिया-पात्र बनना और चौथे आरे के आचरण का प्रदर्शन करना। इसे 'आचार चोर' कहते हैं, अर्थात्—आचार विहीन होते हुए भी शुद्ध चारित्री की प्रतिष्ठा लूटना।

(ङ) भाव-चोर—चोरी से ज्ञान मीखना, मायाचारी से ज्ञान सीखना जिन-जिन आगमधरो से सूत्रों का ज्ञान प्राप्त किया है, उनका नाम और उपकार छिपाना। किसी के पूछने पर यह उत्तर देना—'मैंने श्रुत-ज्ञान स्वयमेव प्राप्त किया है।' ऐसा उत्तर देने वाला 'भाव चोर' कहलाता है।

तीर्थङ्कर की आज्ञा भग करना और निषिद्ध क्रिया का आचरण करना भी चोरी है। कोई भी महाव्रती यदि उक्त क्रिया करता है, तो वह शब्द नय की दृष्टि से चोर है। रोगी, ग्लान या महा तपस्वी के नाम से लाए हुए आहार का स्वयमेव सेवन कर लेना भी चोरी है। अत ऐसा कहना चाहिए कि—जो अप्रमत्त हैं, वस्तुत अचौर्य महाव्रत के प्रति-पालक वे ही हैं। प्रमत्त-दशा में तो सूक्ष्म अदत्ता दान का दोष लगता ही रहता है।

(६) समभिरूढ-नय

प्रमत्त अवस्था में लगे हुए दोषों की आलोचना और निन्दना ग्रहण न करना भी एक प्रकार की चोरी है। और जब तक मोह एवं लोभ का उदय है, तब तक अप्रमत्त अवस्था में भी अदत्तादान के दोष से अछूता नहीं रहा जा सकता, अर्थात्—दसवें गुण-स्थान तक अदत्तादान (चोरी) का दोष लगता है। वीतरागता में अचौर्य दोष नहीं लगता। यह कथन समभिरूढ नय की अपेक्षा से समझना चाहिए।

(७) एवंभूत-नय

जहाँ तक कोई भी जीव छद्मस्थ और अल्पज्ञ है, वहाँ तक चोरी के दोष से अछूता नहीं रहता। सर्वज्ञ होने पर ही अचौर्य महाव्रत पूर्ण विकसित होता है। घातिया कर्मों के सर्वथा क्षय होने से ही ऋजु गुणों का विजय होता है।

दोषों का मूल कारण मन ही है। तेरहवें गुण स्थान में मन सक्रिय नहीं होता। 'चौर्य' यह दोष घातिया कर्मज ही है। अघातिया कर्मों से आत्मा में किसी प्रकार की विकार नहीं होता। अतः जहाँ अचौर्य की परिभाषा उक्त शैली में की जाए वहाँ एवंभूत नय की अपेक्षा से ही समझनी चाहिए।

निहित वा पतित वा,
सुविस्मृत वा पर-स्वमविसृष्टम् ।
न हरति यन्न च दत्ते,
तदकृश चौर्यादुपारमणम् ॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ३, ५७,

किसी की रखी हुई, पडी हुई भूली हुई तथा बिना दी हुई वस्तु को न स्वय ग्रहण करना और न दूसरे को देना—यह अस्तेयव्रत है ।

ब्रह्मचर्य

(१) नैगम-नय

काम और राग की प्रेरणा से दो प्राणियों के संयोग से होने वाले वैषयिक सुख को 'मैथुन' कहते हैं। मैथुन क्रीडा न करना, इसे 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं। जो व्यक्ति अबोध अवस्था में, लज्जा अवस्था में एवं वार्द्धक्य में स्वास्थ्य रक्षा के लिए, बल-वृद्धि के लिए, स्वर्ग प्राप्ति के लिए, परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के लिए, विद्या प्राप्ति के लिए (ब्रह्मचर्येण विद्या, विद्यार्थी ब्रह्मचारी स्यात्) तथा राज-भय से, समाज-भय से, अपयश के भय से, किसी लौकिक कार्य में व्यग्र-चित्त रहने से, धन नष्ट होने के भय से, समय और स्थान की प्रतिकूलता से, विवेक न होने से, दवाइयों के द्वारा वीर्य रोकने से, उपशान्तता से, कार्य की सफलता के उद्देश्य से परवशता से, आयु, यौवन, रूप एवं स्वर--इन सभी की रक्षा के लिए, रोग के भय से (भोगे रोग भयम्) आदि उद्देश्य से जो मैथुन क्रीडा नहीं करता है, इस नय की दृष्टि से वह भी ब्रह्मचारी कहलाता है।

ब्रह्मचर्य की आराधना करने वाला सम्यक् दृष्टि हो, मिश्र-दृष्टि हो या मिथ्या-दृष्टि हो, उसे ब्रह्मचारी कह सकते हैं।

(२) संग्रह-नय

सम्यक् दृष्टि ही ब्रह्मचर्य के वास्तविक महत्व को जानता है। मिथ्या दृष्टि ब्रह्मचर्य का पालन तो करता है, परन्तु उसका दृष्टिकोण ठीक न होने से वह ब्रह्मचारी नहीं कहलाता। क्योंकि मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय भाव में किसी भी धर्म के अंग को वास्तविक रूप में नहीं जाना जा सकता, और बिना ज्ञान के किसी भी क्रिया का कोई महत्व नहीं है।

आत्मा का ध्येय संसार के जन्म मरण आदि दुखों से सर्वथा छूट कर मोक्ष प्राप्त करना है। इस ध्येय को तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब सम्यक्त्व हो, दृष्टिकोण ठीक हो विवेक हो, और शरीर एवं मन स्वस्थ हो (शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्), जैसे वायु के चलने से वृक्ष के पत्ते हिलने लग जाते हैं और वायु के न चलने से पत्ते भी नहीं हिलते। पत्तों के हिलने से छोटी डालियाँ हिलती हैं उनके हिलने से बड़ी डाली हिलती है और बड़ी डाली के हिलने से समुच्चय वृक्ष हिलने लग जाता है। इसी प्रकार काम वासना पैदा होने से वायु की नाड़ी में कम्पन होता है। तत्पश्चात् अन्यान्य नाड़ियों में और समुच्चय सर्वाङ्ग में कम्पन होने लग जाता है। तब मन, बुद्धि और शरीर भी अस्वस्थ हो जाते हैं। उस अस्वस्थता का एकमात्र इलाज ब्रह्मचर्य ही है। वस्तुतः ब्रह्मचर्य मानव-धर्म का एक प्रधान अङ्ग है, अतः प्रधान अङ्ग की रक्षा करने से उसके सहकारी उपाङ्गों की रक्षा स्वयमेव हो जाती है। ब्रह्मचर्य से मन बुद्धि और शरीर बिल्कुल स्वस्थ रहते हैं। इनके स्वस्थ रहने से

विचार भी शुद्ध एव उच्च रहते हैं। अत यह सिद्ध हुआ कि सम्यक्त्व पूर्वक जो सदाचार पालन किया जाता है, वह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के विषय मे सग्रह् नय का यह दृष्टिकोण है।

(३) व्यवहार-नय

श्रेष्ठ आचरण को ही सदाचार कहते है। आत्मा के किसी भी एक प्रधान गुण को अपनाने से उसके सहचारी अनेक गुण अनायास ही स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं। उनको अपनाने के लिए कठोर परिश्रम की आवश्यकता नही रहती। जब किसी सम्राट् को अपने अनुकूल करने से अन्य सभी राज्याधिकारी स्वयमेव अनुकूल हो जाते है, वैसे ही अकेले ब्रह्मचर्य के आश्रित अनन्त गुण स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं। जितने अशो मे ब्रह्मचर्य का ठीक ठीक पालन होता जाएगा, उतने ही अश मे आत्मा का कल्याण होता जाएगा।

जो सर्वथा अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन नही कर सकता, फिर भी दुराचार से सन्तोष धारण करना चाहता है तब विवाह की रस्म अदा करनी पडती है अर्थात्—जो विवाह किया जाता है वह सदाचार की रक्षा के लिए है न कि भोग की पूर्ति के लिए। जिस प्रकार स्त्री का पति-व्रत धर्म है, वैसे ही पुरुष का भी पत्नी-व्रत धर्म है।

विवाह' पुरुष और स्त्री के आजीवन साहचर्य का नाम है। यह साहचर्य ही काम वासना की दवा है और ब्रह्मचर्य के समीप पहुँचने का सहज साधन है। यह साहचर्य तभी

दोनो (पति, पत्नी) म से एक के रुग्ण हो जाने पर, या विदेश जाने पर, या अन्य किसी कारण से थोडे काल के लिए किसी को धन देकर समागम करना प्रथम 'अतिचार है। अविवाहिता, गणिका, विधवा या पति-परित्यक्ता से समागम करना दूसरा 'अतिचार' है। स्त्रियो के नग्न नाच देखना, त्याग वाले दिन मैथुन के अलावा स्पर्शनेन्द्रिय सुख भोगना, काम सेवन के लिए जो प्राकृतिक अङ्ग हैं, उनके सिवाय शेष सब अङ्ग काम-सेवन के लिए अनङ्ग हैं—जैसे हस्त-मैथुन, गुदा-मैथुन आदि तीसरा अतिचार है।

इसी प्रकार दूसरो के पुत्र और पुत्रियो का पुण्य समझकर विवाह करना या दूसरो का रिश्ता छुडाकर अपने साथ करना भी 'अतिचार है। चौथा व्रत धारण करने के पश्चात् अनेक शादियाँ करना, भी अतिचार है। क्योकि आनन्द श्रावक की तरह अपनी स्त्री का नाम लेकर ही यह व्रत धारण किया जाता है। केवल उसी स्त्री पर सन्तोष किया जाता है, प्रतिज्ञा करने से पहले जिसके साथ विवाह हो गया हो। जैसे स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार नही, वैसे ही पुरुष को भी पुनर्विवाह करने का अधिकार नही है। पुनर्विवाह करना चौथा अतिचार है।

काम-वासना की तीव्र अभिलाषा प्रकट करना, पशुओ पर भी वासना बिगाडना, विषय-वर्द्धक दवाइयाँ खाना, या स्व-पत्नी के साथ भी आवश्यकता से अधिक समागम करना पाचवाँ 'अतिचार है। अतिचार से सदाचार दूषित हो जाता है और दग खा से खडित भी हो जाता है। इन पाच

ठहरने म घर म बैठी हुई स्त्री दिखाई दे, द्वार से आती-जाती दिखाई दे, आंगन म, झरोखे म, चौबार म, कोठी म, महल म, या पीछे क स्थान म स्त्रियाँ दिखाई द, या उनकी बात सुनाई दती हो, जहाँ स्त्री-शृङ्गार की कथा होती हो, उनक हँसने रोन की आवाज आती हो, गाने और क्रीडा की अवाज आती हो, उस जगह कदापि नही ठहरना। फिर चाहे वहस्थान कितना ही अच्छा क्यो न हो, वहा ठहरना ब्रह्मचय के लिए अत्यन्त हानिकारक है।

जिस प्रकार बिल्ली के निवास स्थान के पास चूहा का रहना असगत है, इसी प्रकार स्त्रियो म रहने वाली जगह म ब्रह्मचारी पुरुष का रहना सवथा असगत एव हानिकर है। क्योकि वहाँ रहने म उसक ब्रह्मचय म हानि पहुँचन की सभावना रहती है। —(उ० अ० ३२, गा० १३)

भले ही मन, वचन और काया रूप तीन गुप्तियो स गुप्त ऐसे समथ मुनि, जो वस्त्रा भूषणो स सुशोभित एव मनोहर देवाङ्गनाओ द्वारा भी ब्रह्मचय व्रत स डिगाये न जा सकते हो, तो भी उन के लिए एकान्त हितकारी जानकर विविक्त वास, अर्थात्–स्त्री, पशु, और नपुसक स रहित स्थान का सेवन करना ही प्रशस्त बतलाया है।

—(उ० अ० ३२, गा १६)

दूसरी भावना—स्त्रियो की परिषद् म बठकर विचित्र प्रकार की हास्य, शृङ्गार और मोह को पदा करने वाली कथा न कहे। स्त्रियो के सौभाग्य और दुर्भाग्य तथा ६४ कलाओ का वणन, अमुक देश की स्त्रियो का वणन, विवाह आदि का

गान उनकी जाति कुल रूप, नाम, वय, अलकार आदि का
गान-इत्यादि सहित कथाएँ न ता कहे, न सुने, न पढे और न
चिन्तन ही करे। अश्लील कथाएँ कहना, सुनना, पढना और
उनका चिन्तन करना भी ब्रह्मचय के लिए अत्यन्त हानिकारक
है। अत ब्रह्मचय की रक्षा के लिए दूसरी भावना का पालन
करना अत्यावश्यक है।

तीसरी भावना—स्त्रियो का त्यजना। उन का हँसना,
बोलना, चेष्टा करना और उनका हाव भाव, कटाक्ष, चाल,
विलास, खेल, नृत्य-तमाशा सौन्दय हाथ-पाँव, नयन, लावण्य,
रूप, यौवन, पयोधर, वस्त्र, अलकार, अधरोष्ठ, गुप्त स्थान
इत्यादि जो कि तप सयम और ब्रह्मचय के उपघातक
है, उन्हे न तो नेत्रो से देखे, न वचन से कभी प्राथना करे,
और न मन मे कभी उनकी अभिलाषा ही करे।

जो श्रमण तपस्वी है वे स्त्रियो के रूप, लावण्य,
विलास, हास्य तथा मधुर वचनो का इगित, इशारा या
विविध प्रकार की शारीरिक चेष्टा अर्थात्—कटाक्ष, विक्षेप
आदि को अपने चित्त मे स्थापित करके उन्हे अनुराग-पूवक
देखने का प्रयत्न कभी न करे।

—(उ० अ० ३२ गा० १४)

सदा ब्रह्मचय मे अनुरक्त रहने वाले तथा धम-ध्यान मे
तल्लीन रहने वाले साधुओ के लिए स्त्रियो के अङ्ग-उपाङ्ग आदि
का राग-पूर्वक न देखना, उनकी इच्छा न करना, उनका चिन्तन न

करना, आसक्ति पूर्वक उनके रूप आदि का गुण कीर्तन भी न करना परम हितकारी है।

—(उ० अ० ३२ गा० १५)

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए तीसरी भावना का पालन भी अनिवार्य है, ऐसा महर्षियों का अभिमत है।

चौथी भावना—ब्रह्मचर्य महाव्रत धारण करने के पूर्व गृहस्थ अवस्था में किये हुए भोग विलास एवं विषय-सुख को तथा श्वसुरालय में, उत्सव में, खेल-तमाशे में रूप भूषा सहित स्त्री-क्रीड़ा, आलाप सलाप, विकार-जनक घटनाओं को स्मृति पथ में न लाए, उनका कभी स्मरण भी न करे। क्योंकि उनका स्मरण करना ब्रह्मचर्य महाव्रत के लिए घातक है, अतः चौथी भावना का भी सतर्कता पूर्वक पालन करना चाहिए।

पांचवीं भावना—काम-वर्द्धक आहार न करे अर्थात्—दूध, दही, घृत, तेल, गुड़ शक्कर, मिश्री मिठाई आदि पौष्टिक तथा रसीले पदार्थों का आहार न करे। एक दिन में अनेक बार भोजन न करे, सदैव गरम आहार न करे। दाल शाक अचार, चटनी, मिर्च आदि का अधिक सेवन न करे। लहसुन, प्याज का सेवन भी वर्जित है। आहार ऐसा करना चाहिए जिससे शरीर का निर्वाह भी हो सके और संयम तथा ब्रह्मचर्य व्रत की यात्रा भी समाधि पूर्वक होती रहे, अर्थात्—काम उद्दीप्त न हो और इन्द्रियां उत्तेजित न हों।

कहा भी है—दूध, घृत आदि रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रायः रस मनुष्यों में

कामाग्नि आ दीप्त करती है। उद्दीप्त मनुष्य की ओर काम वासनाएं उसी तरह आ दौड़ती है, जिस प्रकार स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष की ओर पक्षी दौड़कर आते हैं।

—(उ० अ० ३२, गा० १०)

जिस प्रकार प्रचण्ड पवन के साथ घने वन में लगी हुई प्रचुर ईंधन वाली अग्नि शान्त नहीं होती, उसी प्रकार प्रकाम भोजी (विभिन्न प्रकार के रस युक्त पदार्थों का भोगने वाले) किसी भी ब्रह्मचारी का इन्द्रिय रूपी अग्नि शान्त नहीं होता और यह उसके लिए हितकारी भी नहीं होती।

औषधियों से पराजित व्याधियों की तरह अर्थात्—जिस प्रकार उत्तम औषधियों से पराजित की हुई व्याधि फिर आक्रमण नहीं करती, उसी प्रकार स्त्री, पशु, नपुंसक से रहित स्थान तथा आसन आदि का सेवन करने वाले तथा इन्द्रियों का दमन करने वाले पुरुषों के चित्त को राग रूपी शत्रु दबा नहीं सकता। —(उ० अ० ३२, गा० १२)

विकारमय स्थान न करना, विकारमय आसन पर न बैठना, विकारी दृष्टि न रखना, विकारी वातावरण से सदा दूर रहना, विकारी शब्द और कथा न सुनना, अश्लील शब्द न बोलना, रसना पर संयम रखना, विकारोत्पादक स्मरण भी न करना, सदैव विचारों को पवित्र रखना—यह उपाय क्रिया मार्ग में ब्रह्मचर्य की रक्षा का है। यदि इन पाँचों भावनाओं को समतोल रूप से वश में रखे, तो ब्रह्मचर्य की पूर्णतया रक्षा हो सकती है। एक भावना में ढील आ जाने से ब्रह्मचर्य महाव्रत भंग होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

आत्म-कल्याण की इच्छा रखने वाले ब्रह्मचारी पुरुष के लिए शरीर की शोभा, स्त्री का संसर्ग, पौष्टिक आहार ये सब तालपुट नामक उग्र विष के समान हैं अर्थात्—जिस प्रकार तालपुट नामक विष तालु से लगते ही प्राणों का हरण कर लेता है, उसी प्रकार शरीर के विभूषा आदि दुर्गुण भी साधु के चारित्रिक गुणों को नष्ट कर देते हैं।

—(दशवै० अ० ८ वां)

यह है ऋजुसूत्र-नय की दृष्टि में ब्रह्मचर्य की परिभाषा।

(५) शब्द-नय

'ब्रह्म' का अर्थ है—वेद तत्त्व और तप। (वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म इत्यमरः) दशवैकालिक सूत्र के ९वें अध्ययन के चौथे उद्देश में 'वेयमाराहयइ', अर्थात्—विनय समाधि का उल्लेख करते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने प्रतिपादन किया है कि—वेद की आराधना कर। इस स्थल पर वेद का अर्थ-श्रुत ज्ञान किया है। 'चर्य' का अर्थ होता है—तदनुरूप आचरण, अर्थात्—उपयोग पूर्वक श्रुत ज्ञान का अध्ययन करना, इसे 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं।

'तत्त्व' का अर्थ है-आत्मा। चैतन्य आत्मा का मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासन करने को भी 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं।

तप के बारह भेद हैं। जिनका सम्बन्ध प्रत्येक तप से हो और जो उन सब का केन्द्र हो, उसे 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं।

"तवेसु वा उत्तमबम्भचेरं", अर्थात्—जिसका चित्त निरन्तर श्रुत ज्ञान में, आत्म चिन्तन में और तप में संलग्न है, उस क्रिया को 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं। ब्रह्मचर्य का अर्थ है-सभी

इन्द्रियों और सम्पूर्ण विचारों पर पूर्ण अधिकार करना। ब्रह्मचर्य-मन, वचन और काय से होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार इन्द्रियाँ मन के अधीन हैं। मन बुद्धि के, और बुद्धि आत्मा के अधीन है। जब बुद्धि आत्मा की सहायिका होती है, तब आत्मा अपने स्वरूप को पहचानता है। अतः अपने स्वरूप को पहचानना ही 'ब्रह्मचर्य' है। यह है शब्द-नय की दृष्टि में ब्रह्मचर्य की परिभाषा।

(६) समभिरूढ नय

शब्द-नय सातवें, आठवें और नौवें गुण-स्थान के उक्त भागों में से पहले दो भागों में, अर्थात्—इन तीन गुण स्थानों में रहने वाले साधकों में 'ब्रह्मचर्य' मानता है। जब कि नौवें गुण-स्थान तक वेद मोहनीय का उदय रहता है, अतः उसे हम अवेदी नहीं कह सकते हैं। वस्तुतः अवेदी को ही ब्रह्मचारी कहा जाता है, सवेदी को नहीं। ब्रह्मचर्य के तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम, और जघन्य।

वासना को पैदा न होने देना—इसे 'उत्तम' ब्रह्मचर्य कहते हैं। सुलगती हुई वासना को तप और संयम के द्वारा उपशान्त करना—यह 'मध्यम' श्रेणी का ब्रह्मचर्य है। मर्यादा से बाहर भड़की हुई वासना को भी निष्फल कर देना, अर्थात्—निमित्त मिलने पर भी भड़की हुई वासना को पूर्ण न करना, इसे 'जघन्य' श्रेणी का ब्रह्मचर्य कहते हैं। इन तीनों में उत्तम श्रेणी का ब्रह्मचर्य ही इस नय को अभीष्ट है। और वह अवेदी तथा वीतराग में ही पाया जाता है, सवेदी में नहीं।

(७) एवभूत-नय

जब तक घातिया कर्मों का उदय या सत्ता विद्यमान है, तब तक सादि अनन्त अवेदी नहीं बन सकता। क्योंकि—साधक ग्यारहवे उपशान्त मोहनीय गुण-स्थान से च्युत होकर पहले गुण स्थान तक भी आ सकता है। फिर वह अवेदी कहा रहा? इस नय की सादि सान्त अवेदी पर कोई श्रद्धा नहीं है। जब तक ब्रह्मचर्य का पूर्ण विकास नहीं होता तब तक केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता। घातिया कर्मों के सर्वथा क्षय होने पर ही सादि अनन्त अवेदी बनता है। यही अवस्था ब्रह्मचर्य की व्यापकता की है। यह है एवभूत नय की दृष्टि से ब्रह्मचर्य की सक्षिप्त परिभाषा।

मूलमेयमहम्मस्स,
महादोस-समुस्सय ।
तम्हा मेहुण-ससग्गं,
निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

—दशवैकालिक सूत्र, ६–११,

यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है महा दोषों का स्थान है। अतः निर्ग्रन्थ भिक्षु मैथुन संसर्ग का सर्वथा परित्याग करते है।

अपरिग्रह

(१) नैगम-नय

अपरिग्रह से पहले परिग्रह का विवेचन करना अधिक उपयोगी है। अत आगम के अनुसार सब प्रथम परिग्रह का वर्णन किया जाता है। आगमो मे नव प्रकार का परिग्रह बतलाया है।

परिग्रह का शाब्दिक अर्थ होता है—"परि-समन्तात् मोह-बुद्धया गृह्यते य स परिग्रह ।" अर्थात्–जिस मोह-बुद्धि के द्वारा सब ओर से ग्रहण किया जाय वह परिग्रह कहलाता है। संसार मे सभी प्राणी परिग्रह से आवृत है। यद्यपि सभी प्राणियो का परिग्रह भिन्न भिन्न है, तथापि उन सब का अन्त-र्भाव नव मे ही हो जाता है। जैसे—

(१) क्षेत्र—उपजाऊ खुली भूमि, खेत बाग पहाड, खदान, चरागाह वन-विभाग आदि। नहर, कुँआ नल-कूप कूल, अरहट आदि साधनो से जिसकी सिचाई की जाती है, वह प्रथम क्षेत्र है। और दूसरा क्षेत्र वह है, जिसकी वर्षा से सिचाई होती है, इत्यादि सभी भूमियो का अन्तर्भाव 'क्षेत्र परिग्रह' मे हो जाता है।

(२) वास्तु—तलघर, हर्म्य, प्रासाद, कोठी, हवेली नोहरा, मकान, दुकान, गाम, नगर, छावनी, तबला आदि, इन सब का अन्तर्भाव 'वास्तु-परिग्रह' म हो जाता है।

(३) हिरण्य—चाँदी क बतन, चाँदी के उपकरण, चाँदी के भूषण, चाँदी के सिक्के आदि ये सभी 'हिरण्य-परिग्रह' के अन्तगत ह।

(४) स्वण—स्वण के बतन, भूपण, सिक्के तथा अन्य उपकरण आदि, इन सब का अन्तर्भाव 'स्वण-परिग्रह' म हो जाता है।

(५) धन—टिकिट, नोट, सिक्का, मणि-माणिक्य वज्र, रत्न, हीरक, प्रवाल, मौक्तिक त्रपुष, लोह, सीसा, पाषाण, फैक्ट्री, शख, तिनिश अगुरु, चन्दन, वस्त्र, काष्ठ, चर्म, दत, रूई, कपास वाल, गध द्रव्यौपधि एव रत्न की चौबीस जातियाँ, पण्य, गुड, शक्कर, आदि, इन सभी वस्तुओं का अन्तर्भाव 'धन-परिग्रह' म हो जाता है।

(६) धान्य—गेहूँ, जौ, चावल, कोद्रव, कँगु, तिल, मूँग, माष (उरद), अलसी, राजमाष, मसूर, कुलत्थ, सरसो, कलाय व्रीहि, मक्कई, चणक आदि, चौबीस प्रकार के धान्य-विशेष 'धान्य-परिग्रह' म समाविष्ट है।

(७) द्विपद—स्त्री, पुत्र, पुत्री, भाई, बहन, मित्र, नाती, गोती, स्वजन, सम्बन्धी, दास-दासी, शुक, मीन, मोर, चकोर, कबूतर, हँस आदि, ये सब दो पाँव वाले प्राणी है। अत इन सब का समावेश 'द्विपद-परिग्रह' में हो जाता है। उपलक्षण

म दो पहिए वाले यान भी इसी परिग्रह म समाविष्ट है
जैसे—साईकिल, मोटर साईकिल आदि।

(८) चतुष्पद—गो वृषभ महिषी (भैंस), हाथी, घोड
खच्चर, ऊँट, भेड, बकरी आदि ये सब चार पाँव वाले है
उपलक्षण से चार पहिए वाले जितने भी यान हैं। अर्थात्-
टक्सी जीप, मोटर ठेला, गाडी, आदि, सब का समावे
चतुष्पद परिग्रह' म हो सकता है क्योंकि इनके चार पहि
होते हैं। दो पहिए वाले या चार पहिए वाले, इन सभी क
समावेश 'धन-परिग्रह' म भी हो सकता है।

(९) कुप्य—उक्त परिग्रह के सिवाय जितनी भी दो
वस्तुएँ हैं, उन सब का समावेश 'कुप्य-परिग्रह' म हो जा
है। इन सब का अन्तर्भाव दो म भी हो सकता है, जैसे-
'चल सम्पत्ति' 'और अचल सम्पत्ति'। 'सचित्त-परिग्रह' औ
'अचित्त-परिग्रह', अथवा 'कनक-परिग्रह' और 'कामिनी
परिग्रह'।

पाँच इन्द्रियों के विषयों म आसक्त रहना भी 'परिग्र
है। जिसका परिचय इस प्रकार है—

(१) कर्ण—जो व्यक्ति जिस इन्द्रिय के विषय
अत्यासक्त होगा और उस इन्द्रिय के जितने भी विषय
उनके साधन एवं उपकरणों को रखने की भी अवश्य कोशि
करता है। जैसे श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है—'सुनना
अर्थात्—जो सुनने म अधिक व्यग्र रहता है, वह रेडियो, टेलि
फोन, टेली-ग्राम, टेलीविजन, टेलीप्रिन्टर, गाने-बजाने के साज
बोलने के उपकरण—माईक्रोफोन, ग्रामोफोन, वायरलैस

आदि सभी प्रकार की वस्तुएँ रखता है।

(२) नेत्र—जो व्यक्ति चक्षुरिन्द्रिय में अत्यासक्त होता है, वह बारह प्रकार के मन—कुश्ती, टूरनामेंट, ड्रामे, थ्यटर, तमाशे सरकस मिस्मरेज्म आदि। बत्तीस प्रकार के नाटक—सिनेमा, नाना, उत्सव, मेला, जलसा, जलूस, प्रदर्शनी, सजावट, जगमगाहट, मोन, चित्र, देश-देशान्तर पर्यटन, विशेष प्रकार के दृश्यों का देखना, इन्द्रजालिक कला आदि, इन सब का समावेश 'चक्षु' इन्द्रिय के विषय में हो जाता है, जो कि परिग्रह का ही रूप है।

(३) नासिका—जो व्यक्ति घ्राणेन्द्रिय में अत्यासक्त है, वह इन वस्तुओं को रखता है। जैसे पाँच प्रकार के फल, फल, बीज पत्र, जड़ी बूटी, कस्तूरी, नस्वार, इत्र, फुलेल, केवड़ा, अँबर, आठ प्रकार की गन्ध, द्रव्य, धूप, अगरबत्ती आदि, अर्थात्—जो सुगन्धि युक्त द्रव्य हैं, वे सब घ्राणेन्द्रिय के विषय साधन है। अतः इन सभी वस्तुओं का संग्रह करना भी परिग्रह का हेतु है।

(४) जिह्वा—जो व्यक्ति रसनेन्द्रिय में अत्यासक्त होता है, वह इन वस्तुओं को रखता है। जैसे—खाने-पीने के समस्त पदार्थ और उनके उपकरण—जिससे पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिसमें तयार किये जाते हैं, जिसके द्वारा बनाए जाते है तथा पकाए जाते हैं जिसमें वे पदार्थ संग्रह करके रखे जाते हैं, जिससे साफ किये जाते हैं, जिसमें रख कर सेवन किये जाते हैं, वे सभी 'परिग्रह' कहलाते हैं। मांस, अण्डा तथा शहद खाना, देसी व अंग्रेजी शराब पीना, और

मुलफा, भाग, गाजा, चरस आदि का पीना 'महापरिग्रह' कहलाता है।

(५) त्वचा—जो व्यक्ति स्पर्शनेन्द्रिय के विषय मे अत्यासक्त होता है, वह इन वस्तुओ को रखता है। जैसे—बहुमूल्य वस्त्र पहनना, ओढना, नाना प्रकार के भूषण धारण करना, मुलायम बिछौने पर शयन करना, सुखदायी आसनो पर बैठना, भोग विलास के साधन—

शस्त्र-अस्त्र, पौउडर, साबुन तेल, औषधि वायस्लीन, क्रीम आदि यातायात के साधन घोडा गाडी साइकिल मोटर वायुयान हीटर, पखे एअर कण्डीशड, रफीजटर अगीठी इत्यादि वस्तुएँ रखना भी परिग्रह का ही रूप है।

इस प्रकार इन्द्रियो के जो विषय है, उनके समस्त उपकरण रखना भी परिग्रह है, अर्थात्—जो जिस इन्द्रिय के विषय मे अत्यासक्त है, वह उन उपकरणो के लिए अनेक प्राणियो का घात भी करता है झूठ भी बोलता है और चोरी भी करता है, अन्य प्रकार के भी बहुत से म कुकर्म करता है। हर समय आर्त ध्यान तथा रौद्र-ध्यान मे लगा रहता है। सदव काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार के वशीभूत होता है। कलह, निन्दा, चुगली भी करता है। दूसरो पर मिथ्या कलक भी चढाता है और मिथ्यात्व का सेवन भी करता है। जो सदा धर्म से विमुख और पापो के सम्मुख रहता है, वह जीवन-पर्यन्त किसी भी इन्द्रिय को तृप्त नही कर सकता और अन्त समय मे मृत्यु प्राप्त कर दुर्गति मे जा पहुँचता है। यह है महा परिग्रहियो की दुर्दशा

का सक्षिप्त परिचय ।

लोभ मोहनीय के उदय मे नव प्रकार के परिग्रह को प्राप्त करने के लिए इच्छा पैदा होती है। इच्छा से सग्रह-बुद्धि पैदा होती है। सग्रह मे ममत्व-बुद्धि पैदा होती है, अत सिद्ध हुआ कि मोह-कर्म परिग्रह सज्ञा का प्रवर्त्तक है। किसी भी वस्तु का ममत्व पूर्वक सग्रह करना 'परिग्रह' है। अप्राप्त वस्तु की इच्छा करना, वस्तु मिलने पर सग्रह करना, प्राप्त वस्तु पर मूर्च्छा या ममत्व करना, ये परिग्रह के अन्तर्भूत हैं ।

अथवा अनधिकृत सामग्री को पाने की इच्छा करना 'इच्छा-परिग्रह' है। वर्तमान मे मिलती हुई वस्तु को आसक्ति पूर्वक ग्रहण करना 'सग्रह-परिग्रह' है। और सगृहीत सामग्री पर ममत्व करना, आसक्त होना, गृद्ध होना मूर्च्छा परिग्रह है। परिग्रह सज्ञा जीव को भौतिक-जगत् मे भटकाती है।

पाचो इन्द्रियो के जो पाच विषय है, उन मे आसक्त होना भी परिग्रह है। पदार्थ स्वय परिग्रह नही है, किन्तु जब उसे पाकर जीव मे राग-द्वेष के परिणाम पैदा होते है, तब वही पदार्थ उपचार से परिग्रह बन जाता है। वस्तुत जीव मे राग-द्वेष रूप अध्यवसाय ही परिग्रह है। परिग्रह वृत्तियो मे और मन मे रहता है, वस्तुओ मे नही। वस्तु 'पर' है, 'पर' मे स्व की बुद्धि बनी कि फिर तुरन्त परिग्रह बन जाता है। मूलत 'मूर्च्छा परिग्रह' है और उससे सम्बन्धित वस्तुएँ भी परिग्रह है। वस्तु के बिना जीवन नही चलता, अत परिग्रह पीठ के पीछे रहना चाहिए, मुँह के सामने नही। अथवा

असयम, अविवेकिता और अज्ञानता, इन तीनों से सयुक्त जो बाह्य वस्तु है, उसे 'परिग्रह' कहते हैं।

जिस पदार्थ का उपयोग व उपभोग, ग्रहण व सग्रह व्यक्ति मे मूर्च्छा, ममत्व या अन्य विकार भाव लाए वह 'परिग्रह' है।

जो पदार्थ सामूहिक रूपेण समष्टि मे विषमता पूर्ण दुर्व्यवस्था पर अधिकार, हरण, शोषण, दुःख एव विनाश की प्रवृत्तिया को जन्म दे, वह 'परिग्रह' कहलाता है। कर्म-जन्य विकार को भी 'परिग्रह' कहते हैं। यही परिग्रह का सक्षिप्त विवेचन है।

नगम-नय

"न परिग्रह इत्यपरिग्रह", अर्थात्—परिग्रह के अभाव को 'अपरिग्रह' कहते हैं। अपरिग्रह शब्द समस्त पद है, इसमे नञ् समास हो रहा है। नञ् समास दो प्रकार का होता है—एक प्रसज्य निषेधक, और दूसरा पर्युदास निषेधक। इनमे प्रसज्य निषेध सर्व निषेधक होता है, और पर्युदास निषेध आंशिक निषेधक होता है।

जिसके बिना गृहस्थ जीवन की यात्रा, सामाजिक मर्यादा, दान तथा पुण्य क्रिया एव धर्म क्रिया निर्विघ्नता पूर्वक न चल सके, अर्थात्—जो सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान मे साधन रूप हो, उसे 'आवश्यकता' कहते हैं। आवश्यकता से अधिक परिग्रह न रखना भी 'अपरिग्रह' है।

वह अपरिग्रह भी चार प्रकार का होता है, जैसे—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, और भाव से। इनका विवेचन इस प्रकार है—

(१) द्रव्य से अपरिग्रह—आवश्यकता से अधिक न रखना आर्य-कर्म, आर्य-वाणिज्य, आर्य-कला, आर्य-शिल्प से द्रव्य उपार्जन करना, अधिक कर न लगाना, मामला (हाडा) अधिक न लगाना, रिश्वत न लेना, ब्लैक मार्केट न करना, किसी पर झूठा दोषारोपण करके न लेना, हिंसा, झूठ चोरी का अवलंबन लेकर द्रव्योपार्जन न करना, दुराचार करके द्रव्योपार्जन न करना, शोषण वृत्ति न रखना 'द्रव्य-अपरिग्रह' है।

(२) क्षेत्र से अपरिग्रह—किसी भी क्षेत्र में, ग्राम, नगर, वन में, किसी भी स्थान में अन्याय और अनीति का अनुसरण न करना। जिस क्षेत्र में रहे उसमें पूर्वोक्त नियमों का पालन करना 'क्षेत्र-अपरिग्रह' है।

(३) काल से अपरिग्रह—दिन, रात्रि, सप्ताह, मास, वर्ष, आयु पर्यन्त किसी भी घडी में कितना ही सुनहरा अवसर अन्याय और अनीति से द्रव्योपार्जन का मिलता हो, उसे स्वीकार न करना 'काल-अपरिग्रह' है।

(४) भाव से अपरिग्रह—प्रकृति से भद्रता, सुकोमलता विनीतता, कषाय की मन्दता, प्रशस्त लेश्या, शुभ अध्यवसाय, सन्तोष वृत्ति, ये सब 'भाव-अपरिग्रह' के भेद हैं।

यदि कोई व्यक्ति स्वार्थ परायण न होकर सिर्फ राष्ट्र की उन्नति के लिए, ग्राम-नगर एवं समाज सुधार के लिए, दीन-हीन की रक्षा के लिए, परोपकार के लिए, धर्म-रक्षा के हेतु द्रव्योपार्जन की इच्छा करता है, तदर्थ द्रव्य का संग्रह करता है। अपना तन-मन-धन सर्वस्व मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता के लिए बलिदान करता है, तो वह व्यक्ति भी अपरिग्रही है,

क्योकि महापरिग्रही उक्त क्रिया नही कर सकता।

नैगम-नय

जो अपरिग्रह के स्वरूप को नही जानता है, न धारण ही करता है किन्तु पालता है, वह भी अपरिग्रही है। जानना नही, ग्रहण करता है और पालना भी है, वह भी अपरिग्रही है।

सग्रह-नय

परिग्रह की सज्ञा ही परिग्रह की जननी है। जिसम परिग्रह सज्ञा का बीज मात्र भी है, उसे अपरिग्रही नही कहा जा सकता है। मनुष्य की जन्मजात अवस्था म परिग्रह सज्ञा माता के दूध तक ही सीमित होती है। फिर शन-शनै माता-पिता भाई, बहनो तक, फिर खिलौने म समवयस्क साथियो मे खान-पीने तथा पहनने की चीजा से विद्या से नम्बरो से डिविजन से रुपय पसो म, स्त्री से, बच्चा से, व्यापार, मे मित्र और रिश्ते-दारो स उपकरणा मे गाय भस हाथी घोडा ऊँट बकरी आदि पशुआ स, युग प्रयोग आदि से परिग्रह सना अपना घनिष्ठ सम्बन्ध जोड देती है। अन्ततोगत्वा परिग्रह सज्ञा सवलोक म व्यापक हो जाती है। ज्यो-ज्यो परिग्रह सज्ञा बढती जाएगी, त्यो त्यो दुख की मात्रा भी बढती ही जाएगी। प्रस्तुत हुई परिग्रह सज्ञा को मिथ्या दृष्टि वस्तुत नही समेट सकता है। सम्यक्त्व लाभ से परिग्रह सज्ञा कम हो जाती है, और सम्यक्-ज्ञान से उसके स्वरूप को जाना जा सकता है।

विवक से तीव्र रस से मन्द-रस कर दिया जाता है, सम्यक्त्व सम्यक् ज्ञान और विवेक, इन तीनो का क्रिया-काल और

निष्ठाकाल युगवत् ही होता है, क्रमश नही। क्योकि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने से मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियाँ जड-मूल से नष्ट हो जाती है, जिनका क्षय करने की फिर कभी आवश्यकता नही रहती। ये सात प्रकृतियाँ अनन्त ससार बढाने वाली है, दुखो की परम्परा बढाने वाली है। उन सात प्रकृतियो के क्षय होने से परिग्रह सज्ञा बहुत ही अल्प मात्रा मे रह जाती है।

नैगम-नय की मान्यता है कि मिथ्या-दृष्टि भी अपरिग्रही हो सकता है। परन्तु सग्रहनय का कहना है कि जो परिग्रह के स्वरूप को जानता ही नही, वह अपरिग्रही नही हो सकता। क्योकि जो जिसके स्वरूप को जानता ही नही, वह चाहे धारण और पालन भी करे, फिर भी वह परलोक का आराधक नही हो सकता क्योकि वह उसके स्वरूप को जानता ही नही। अत कहना चाहिए कि जो अपरिग्रह के स्वरूप को भली भाति जानता है, वह अपरिग्रही हो सकता है। वास्तविक न्याय-नीति का स्वरूप भी सम्यक्दर्शन पूर्वक सम्यक्ज्ञान से ही समझा जा सकता है, मिथ्या-ज्ञान से नही। मिथ्या दृष्टि वस्तु के बाह्य अङ्ग को समझ सकता है, जान सकता है, किन्तु भीतरी अग को नही। जबकि सम्यक्दृष्टि बाह्य अग को तो जानता ही है, साथ ही उसके भीतरी अग को भी बहुत कुछ जान सकता है। जैसे पुस्तक के बाह्य अग को अनपढ भी जानते हैं और देखते है, परन्तु विशिष्ट विद्वान उसके भीतरी अग को भी जानते है और देखते हैं।

(क) द्रव्यसे अपरिग्रह-अनासक्ति भाव से, न्याय-नीति से,

सन्तोष पूर्वक द्रव्योपार्जन करना, उदारता से देना 'अपरिग्रह' है।

(ख) क्षेत्र से अपरिग्रह—लोक का असंख्यातवां भाग मात्र ही अपने उपभोग में लाना इससे अधिक नहीं।

(ग) काल से अपरिग्रह—सम्यक्त्व काल पर्यन्त।

(घ) भाव से अपरिग्रह—सम्यक्त्व के पांच लक्षण हैं जैसे—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य।

जब उक्त पांचों में से किसी एक में भी सम्यक्त्वी का उपयोग संलग्न हो तब वही परिणाम, वही अध्यवसाय 'अपरिग्रह' है। क्योंकि सम्यक्त्व अवस्था में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, इन पांच प्रकृतियों का बन्धन न होना ही 'अपरिग्रह' है।

क्षायिक सम्यक्त्व अवस्था में तो भावी काल में भी बन्ध नहीं होता।

संग्रह नय का कहना है कि जो व्यक्ति अपरिग्रह का स्वरूप भली भांति जानता है ग्रहण नहीं करता, परन्तु पालने का अभ्यास करता है, वह भी कथंचित् अपरिग्रही है। जो अपरिग्रह के स्वरूप को नहीं जानता उसका ग्रहण करना, और उसका पालन करना अवस्तु है। जैसे मिथ्या दृष्टि का अपनाया हुआ अपरिग्रह आत्म-कल्याण में सहयोगी नहीं है, क्योंकि वह जानता नहीं है। अज्ञानी का किया हुआ कार्य अज्ञान वर्द्धक होता है, यह एक सिद्धान्त है।

व्यवहार नय

जहां अपरिग्रह है—वहां सहानुभूति, अहिंसा, मैत्री, सत्य,

ईमानदारी और सदाचार है। जो अपनी इच्छाओं को सिर्फ आवश्यकताओं तक ही सीमित रखता है, अर्थात्—जिसने अपनी इच्छा और मूर्च्छा (ममता) पर प्रतिबन्ध लगा दिया है, उसका गृहस्थ जीवन आदर्शमय, संतोषमय और सुखमय बनता है। आदर्श गृहस्थ अन्याय और अनीति से सम्पन्न द्रव्य को विष तुल्य समझता है। वह माया का गुलाम नहीं होता। उसका बल और शक्ति सहनशीलता एवं न्याय के लिए होती है, प्रभाव के लिए नहीं। उसका अध्ययन ज्ञान के लिए, धन-दान के लिए, शक्ति-रक्षा के लिए, और तप-निर्जरा के लिए होता है।

आदर्श गृहस्थ परिग्रह को परिमित रखता है। वह भी सिर्फ आवश्यकता पूर्ति के लिए, न कि तृष्णा पूर्ति के लिए। मर्यादा से उपरान्त धन माल, मिल्कत, राजपाट, सत्ता, अधिकार मिलने पर भी 'लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ" इच्छा और ममत्व का त्याग करता है। वह ऐन्द्रियक भोग भोगते समय अनासक्ति, परमात्मा और मृत्यु का ध्यान रखता है। बोलते समय सत्य का विनाश न हो जाए, इस बात का ध्यान रखता है। सोते समय, बैठते समय, उठते समय, चलते समय, खाते-पीते समय यतना को नहीं भूलता, उसका अन्तःकरण सतत जागृत ही रहता है। जागृत की परिभाषा है—जो पापों से आत्मा की रक्षा करता है। जीता वही है, जो जीवन का वास्तविक उद्देश्य समझ कर उसे सफल बनाता है। उसीको आदर्श गृहस्थ कहते है, जिसको जैन-परिभाषा में 'श्रमणोपासक' भी कहते है।

प्रवृत्यात्मक भी है। त्याग और अग्रहण निवृत्यात्मक
क्योकि इसमे निवृत्ति की प्रधानता है। किन्तु इस प्रक
का दान देना प्रवृत्यात्मक अपरिग्रह। स्थूल अपरिग्रह धम
निवृत्ति। इच्छा को परिमित से भी परिमित करते रहना

इच्छा परिमित होते हुए भी अन्याय और अनीति
संग्रह न करना, धर्म से अपनी आजीविका चलाना "धम्मे
चेव वित्ति कप्पेमाणे विहरइ", और न्याय-नीति से उपार्जि
सम्पत्ति प्रवचन प्रभावना के लिए, चतुर्विध श्री संघ की स
नति के लिए, सहायता पहुँचाने के लिए, श्रुत सेवा के लिए
परिग्रह के ऊपर से ममत्व घटा कर दान देना भी 'अपरिग्र
है। परन्तु जो व्यक्ति मर्यादा उपरान्त परिग्रह का त्या
और अणु-व्रत धारण कर लेता है, वह यदि दान देता
तो उसका महत्व अधिक है, बनिस्बत उसके जोकि अधर्म
द्रव्य उपार्जित करता है और फिर दान करता है।

राजा प्रदेशी 'जोकि पहले महारम्भी और मह
परिग्रही था, सम्यक् दृष्टि होने के पश्चात् बारह
केशीकुमार श्रमण के समक्ष धारण किये और उन्ही
साक्षी से अपनी रमणीकता को स्थिर रखने के लिए उस
अपने राज्य की आमदनी का चौथा हिस्सा दान के लि
निकाला। यह सत्य है राजा प्रदेशी के मन मे दान देने के
लक्ष्य थे—एक अनुकम्पा, और दूसरा प्रवचन प्रभावना
सम्यक् दृष्टि के अन्दर पाच लक्षण पाये जाते है—शम,संवेग
निर्वेद, अनुकम्पा, और आस्था। सम्यग्-दृष्टि मे अनुकम्पा
होना स्वाभाविक है। सम्यक् दृष्टि मे अनुकम्पा कार

रूप में नहीं, बल्कि कार्य रूप में परिणत हो जाता है। अनुकम्पा भाव से दान शाला खोली, जिसमें दान-दान, अनाथ अपाहिज, रोगी, भूखे-प्यासे मुसाफर आदि सब की खान-पान, रहन-सहन, औषधोपचार, विद्या-दान, खानेपान तथा रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध किया गया था। यह है अनुकम्पा का साकार रूप।

उसका दूसरा लक्ष्य था—प्रवचन प्रभावना का। जिससे जनेतर जनता में भी जिन धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई तथा लोगों को भी मालूम पड जाए कि जब से राजा धर्मी श्रमणोपासक बना तभी से दानवीर बना और सभी की देखभाल करने लगा। दयावीर, दानवीर, और धर्मवीर बना, राजा का अनुकरण प्रजा ने भी किया। "यथा राजा तथा प्रजा" की कहावत चारितार्थ हुई। यह है धर्मप्रभावना का पहला दिग्दर्शन।

सनत्कुमार इन्द्र ने पूर्वभव में चतुर्विध श्री संघ को सहायता पहुँचाई, वह उनका हितैषी था, उन्हें धर्म में सुस्थिर किया, उनके लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर किया। वस्त्र-दान भोजन-दान औषधि-दान तथा विद्या-दान आदि अनेक प्रकार से चतुर्विध श्री संघ को सहायता पहुँचाई। अनुकम्पा भाव से सहायता पहुँचाने का परिणाम यह निकला कि वह क्षायिक सम्यक् दृष्टि, परित संसारी, सुलभ बोधि, आराधक और चरम शरीरी बना। यह है आध्यात्मिक क्षेत्र का लाभ, आगे चल कर वह चतुर्विध श्री संघ सेवक महर्द्धिक समृद्धियुक्त महासुखी, महाप्रतापी, महाप्रभावक, शक्रेन्द्र ईशानेन्द्र

इन्द्रा पर जिसका पूर्ण प्रभाव है, इत्यादि अनेक विशेषणों से सम्पन्न तीसरे देवलोक का इन्द्र बना। यह है पुण्यानुबन्धी पुण्य का फलादेश-जिसने क्रमशः पहले स्थूलप्राणातिपातविरमण व्रत, स्थूल मृषावाद विरमणव्रत, स्थूल अदत्तादान विरमण-व्रत और स्वदारा सन्तोष व्रत धारण कर लिए हों, तत्पश्चात् अपनी इच्छा को अनन्त पदार्थों से हटाकर मर्यादित कर ली है। आवश्यकता के अनुसार परिमित पदार्थों का संग्रह न्याय-नीति से करता है, उसके द्वारा दिया हुआ दान विशेष महत्व रखता है। वस्तुतः वही दान अपरिग्रह में सम्मिलित है, उसी को दूसरे शब्दों में त्याग भी कहते हैं। त्याग उसी वस्तु का हो सकता है, जिसके ऊपर से मूर्च्छाभाव हटा दिया हो। जो आशा रखकर दान दिया जाता है, वह त्याग नहीं गिना जाता। जो सिर्फ दान को ही अधिक महत्त्व देते हैं। त्याग और अग्रहण को उतना नहीं, वे अपरिग्रह का वास्तविक अर्थ नहीं जानते। अपरिग्रहता के बिना केवल दान का महत्त्व वैसा ही है जैसे किसी को बीमार बनाकर फिर उसके लिए औषधि का प्रबन्ध करना। त्याग व अग्रहण अपरिग्रह तो बिल्कुल मूल कुठार करने वाला है और दान ऊपर से ही कोंपल नोचने जैसा है। त्याग खाने-पीने की दवा है, और दान सिर पर लगाने की सोंठ है। त्याग से पाप का मूल-धन चुकता है, और दान से पाप का ब्याज। त्याग में अन्याय के प्रति चिढ है, और दान में नामवरी का लालच। त्याग का स्वभाव दयापूर्ण है, और दान का ममता पूर्ण। त्याग का निवास धर्म के शिखर पर है, और दान

उसकी तलहटी पर। त्याग, सवर और निर्जरा का कारण है, और दान, पुण्य तथा निर्जरा का।

जिस समय साधक यह समझ लेता है कि सब प्राणियो मे आत्मा एक समान ही है, तब वह ऐसा कोई कार्य नही करता, जिससे एक को दुख और दूसरे को सुख मिले। वह तो अपनी सुख शान्ति के लिए जितने उपकरणो की आवश्यकता होगी, उतने ही लेगा शेष दूसरो के लिए छोड देगा। यह है व्यवहार-नय की दृष्टि से अपरिग्रह की परिभाषा।

ऋजुसूत्र-नय

छठे गुण-स्थान मे अपरिग्रह धर्म विद्यमान है। क्योकि पाचवा महाव्रत है "सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमण", तीन योग और तीन करण से सभी प्रकार से परिग्रह का परित्याग ही अपरिग्रह कहलाता है। जहा परिग्रह है, वहाँ अवश्य ही ममत्व भाव है। जहाँ ममत्व भाव है, वहाँ सभी प्रकार के पापो का समावेश है। जहा पाप है, वहाँ असयम है। साधुता मे असयम का [illegible] अभाव पाया जाता है, अत कहना चाहिए कि [illegible] अपरिग्रह है। गृहस्थ धर्म मे अपरिग्रह सर्वा[illegible] [illegible] सकता, क्योकि श्रमणोपासक को भी परि[illegible] [illegible] लगती है। साधुता मे परिग्रहिया क्रिया नही [illegible] साधु अपरिग्रही हो सकता है, गृहस्थ नही। [illegible] साधक साधुता अगीकार करता है, तब [illegible]

करते हुए इस प्रकार प्रतिज्ञा करता है कि से अप्पं वा बहुं वा, अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा, परिगिण्हंते वि अन्ने न समणुज्जाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ॥—१

'मैं सब प्रकार के परिग्रह का परित्याग करता हूँ।' वह परिग्रह इस प्रकार है—अल्प अथवा बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचेतन अथवा अचेतन। परिग्रह को न मैं स्वयं ग्रहण करूँगा, न दूसरों से परिग्रह का ग्रहण कराऊँगा और परिग्रह ग्रहण करने वाले दूसरों को भला न समझूँगा। आजीवन के लिए मन से वचन से और काय से न स्वयं करूँगा न दूसरों से कराऊँगा और करते हुए दूसरों को भला भी नहीं समझूँगा।

यहाँ परिग्रह से तात्पर्य है—क्षेत्र वास्तु हिरण्य स्वर्ण-धन-धान्य द्विपद-चतुष्पद-और कुप्य धातु। वह नव प्रकार का परिग्रह अल्पादि छह हिस्सों में विभक्त हुआ है। वह नव प्रकार का परिग्रह ही अल्प मात्रा में या अधिक मात्रा में, अथवा अल्प-संख्या में या बहुसंख्या में होता।

अणु और स्थूल का अर्थ है—यह नव प्रकार का परिग्रह मूल्य में अणु और महान्, अथवा परिमाण में अणु और महान्, अथवा वजन में अणु और महान्, अथवा सूक्ष्म रूप

और बादर रूप तथव सचित्त और अचित्त, इस प्रकार का परिग्रह साधु न स्वय रख सकता है, न दूसरो से रखवा सकता है। और न रखते हुए को भला ही समझना है। यह है साधु का अपरिग्रह धम।

द्रव्य से अपरिग्रह

चांदी सोना, रत्न, मणि, मोती, सीप, शख प्रवाल, लोहा, तांबा सीसा, कासी, पीतल आदि धातुए क्षेत्र वास्तु छत्र, कमण्डल पगरखी पखा मेज कुर्सी सिंहासन पाषाण चम सीग दास दासी प्रेषक हाथी घोडा, गाय, भस, बकरा, भेड, आदि पशु, रथ, यान, विमान पोत, गाडी, जहाज, वगरा वस्त्र, सरकारी सिक्का नया पोस्टकाड, पोस्टेज लिफाफा टिकिट, नोट स्टाम्प आदि सभी द्रव्यो को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से परित्याग कर दिया जाता है, वह अपरिग्रह है।

क्षेत्र से अपरिग्रह

ग्राम म, नगर म, या अरण्य मे किसी भी स्थान विशेष म ममत्वपूण अपना किसी भी प्रकार का अधिकार न जमाना, अर्थात्—ममत्व क्षेत्र स बाहर होना अपरिग्रह है।

काल से अपरिग्रह

प्रतिज्ञाबद्ध अमुक काल तक सयम निरपक्ष न होना अर्थात्—जीवन के अतिम क्षण तक एक भी क्षण सयम निरपेक्ष न व्यतीत करना अपरिग्रह है।

भाव से अपरिग्रह

प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क के क्षय होने से जो आत्मा

म अध्यवसाय पैदा होते है। अथवा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मिथ्यात्व, वेद, अरति, रति, हास, शोक, भय, जुगुप्सा , इन १४ प्रकार के आभ्यन्तरिक परिग्रह से रहित होना अपरिग्रह है।

सयम म उपयोगी, आवश्यकता-पूर्ति के लिए और सयत जीवन के निर्वाह के लिए ४२ दोष टालकर आहार, वस्त्र, पात्र, स्थान, आदि सेवन करना भी अपरिग्रह है।

इस नय की दृष्टि से १०० प्रकार का शिल्प सीखना, ७२ कलाएँ सीखना, शस्त्र अस्त्र बनाने की विद्या और चलाने की विद्या सीखना, राजनतिक एव व्यापारिक भाषाएँ सीखना, धन कमाने की विद्याएँ सीखना, खेती वाडी का काम सीखना, डाक्टरी विद्या सीखना, सब परिग्रह है।

पद पाने के लिए, पारितोषिक के लिए वेतन वृद्धि के लिए, यश-कीर्ति के लिए, जो कुछ भी सीखा जाए, पढा जाए, जप किया जाए भक्ति की जाए, सेवा की जाए मन्त्र-यन्त्र तन्त्र, डोरा, तावीज वगैरा सिद्ध किया जाए, वह सब परिग्रह है। जो साधु या साध्वी असयम म सहयोगी अप्राप्त वस्तु की इच्छा, प्राप्त वस्तु पर आसक्ति, शिष्य शिष्या पर मूर्च्छा करते है, अपने अनुयायी वर्ग को धनाढ्य बनाने की चिन्ता, किसी के पास धनादि न होने पर चिन्ता करना, प्रसिद्धि की इच्छा करना, उपाधि प्राप्त करने के लिए अधिकारी या अनुयायियो द्वारा प्रयत्न कराना, लेख या पुस्तक अपने नाम से दूसरो के द्वारा लिखवाना, गृहस्थ के कार्यों म भाग लेना, गृहस्थो को अपने काम के लिए भेजना, बुलाना, बठाना,

—उक्त क्रिया करने वाले साधु-साध्वी परिग्रही हैं।

ममत्व बुद्धि से रखा हुआ उपकरण भी संयम का उपकरण नहीं रहता, वह तो अधिकरण बन जाता है। अनर्थ का मूल कारण बन जाता है। वास्तव में अपरिग्रही वही साधु है, जो किसी पर मोह नहीं करता, किसी पर अपनापन का भाव नहीं लाता। खो जाने पर, नष्ट हो जाने पर, अपहरण हो जाने पर आर्त-ध्यान नहीं करता।

प्राणी को जिन संसारिक पदार्थों की इच्छा होती है वे पदार्थ—शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श हैं।

प्राय प्रत्येक पदार्थ की इच्छा इन्द्रिय और मन की विषय-लालुपता से ही होती है। अतएव इन पाँच इन्द्रियों के इष्ट विषयों पर राग न करना और अनिष्ट विषयों पर द्वेष न करना ही संयम है। क्योंकि ये विषय शान्ति के भेदक हैं, महाव्रत के भंजक हैं, केवलि-भाषित धर्म से भ्रष्ट करने वाले हैं, आत्म-बोध से दूर रखने वाले हैं, संसार में भटकाने वाले हैं, कर्म बंधक हैं, कषायों के जनक हैं, परिणाम में कटुक हैं, भव रोग तथा पाप के वर्द्धक हैं।

इन्द्रियों का स्वभाव है अपने अपने विषय को ग्रहण करना, परन्तु उनमें राग, द्वेष, मोह, एवं ममता करना पाप है। किसी भी इन्द्रिय को नष्ट करना, फोड़ना अज्ञानता है। यह है ऋजु-सूत्र नय की दृष्टि से परिग्रह और अपरिग्रह की परिभाषा।

शब्द-नय

अप्रमत्त गुण-स्थानों में विचरना, प्रशस्त ध्यान में तल्लीन

होना, आठ प्रवचन माता की आराधना करना, पूर्ण अहिंसा मय सत्यमय अचौर्यमय ब्रह्मचर्यमय एव जीवन का अपरिग्रह कहते हैं। इस नय की मान्यता है कि जो प्रमत्त गुण-स्थान हैं, उनमे विचरना परिग्रह है।

क्योकि बाह्यपरिग्रह का कारण आभ्यन्तरिक परिग्रह है। आभ्यन्तरिक परिग्रह के निवृत हो जाने से बाह्य परिग्रह की निवृत्ति स्वयमेव हो जाती है। ज्ञान ससार के बन्धनो से मुक्त करने वाला है, परन्तु यदि उसके कारण किंचित् भी अभिमान उत्पन्न हुआ है तो वह ज्ञान भी परिग्रह है। इसी प्रकार सयम और तप के विषय मे भी समझ लेना चाहिए। इस लोक के उद्देश्य से, परलोक के उद्देश्य से, यश-प्रतिष्ठा और श्लाघा के उद्देश्य से जो कुछ भी शुभ क्रिया की जाती है, वह सब परिग्रह है। अपने वचन का मोह करना, पक्ष-पात करना, हठ करना, सविभाग ठीक न करना, किसी पदवी को पाने के लिए आगमो का अध्ययन करना भी परिग्रह है। १८ प्रकार के पाप-स्थानको से विरमण न करना भी परिग्रह है।

समभिरूढ-नय

समस्त पापो से निवृत्त होना, साम्परायिक क्रिया का रुकना, हेय को छोडना, और उपादेय का ग्रहण करना, तप और सयम मे विशुद्ध पराक्रम करना, क्षायिक भाव मे रहना, दश घाति और सब-घाति कर्मों से रहित होना, तेरहवे गुण-स्थान मे प्रवेश करना, परम शुक्ल लेश्या मे रहना, सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनना अपरिग्रह है।

औपशमिक भाव में रहना, क्षायोपशमिक भाव में रहना, औदयिक भाव में रहना, छद्मस्थ दशा में रहना, साम्परायिक क्रिया में रहना परिग्रह है।

एवभूत-नय

एवभूत का सिद्धान्त है कि वास्तविक अपरिग्रह १४ वें गुण-स्थान में होता है क्योंकि वहाँ सवर और निर्जरा का पूर्ण विकास हो जाता है, अन्य किसी गुण-स्थान में उनका पूर्ण विकास नहीं है। अत कहना चाहिए कि १४ वाँ गुण-स्थान ही अपरिग्रह है।

१३ वें गुण-स्थान में निर्वाण नहीं होता, क्योंकि वहाँ औदारिक शरीर, तैजस शरीर और वेदनीय आयु नाम, गोत्र ये चार कर्म शेष हैं। आगम में शरीर और कर्मों को परिग्रह माना है इसलिए १३ वाँ गुण-स्थान अपरिग्रही अवश्य है, किन्तु पूर्ण अपरिग्रही नहीं।

पचसवर का षट्द्रव्यों में वर्गीकरण

अहिंसा का विषय छह द्रव्यों में केवल जीवास्तिकाय तक ही सीमित है। सत्य का विषय सब द्रव्यों तथा उनकी सब पर्यायों में विद्यमान है। जैसे भगवान् का ज्ञान सर्वव्यापक है वैसे ही सत्य भी, इसी कारण जैनागमों में सत्य को भगवान् कहा है। सत्य की आराधना के लिए सम्यक् श्रद्धा सम्यक् प्ररूपणा और सम्यक् पालना आवश्यक हैं, तभी जीवन सत्यमय बन सकता है, अन्यथा नहीं।

अस्तेय का विषय ग्रहण और धारणा की अपेक्षा सभी

द्रव्या म देश-रूप से है, सव-रूप स नहीं, अर्थात्—व्याप्य से है, और व्यापक रूप से नही।

ग्रहण का अथ होता है—खान-पीने की वस्तु, पहन ओढने की वस्तु, उठाने-रखने की वस्तु, प्रातिहार्य—वापि करने की वस्तु, पढने पढाने की पुस्तक आदि सामग्री आदि वस्तुए दाता के द्वारा हर्ष पूर्वक दी हुई निर्दोष वस्तु हैं जो संयम जीवन के लिए उपयोगी हैं, आवश्यकतानुसार सन्तोष से ग्रहण करना और उस यतना से वरतना। तथा विनय पूर्वक श्रुत ज्ञान ग्रहण करना भी अस्तेय व्रत है।

धारण का अथ होता है—आचार्य-प्रवर तथा सद्गुरु की आज्ञा होने पर ही तप जप करना, स्वाध्याय करना, सामायिक आदि षट् आवश्यक करना, सहधर्मी ग्लान आदि की वैयावृत्य करना, अध्ययन-अध्यापन सलेखना आदि करना, अर्थात् साधुता की प्रत्यक क्रिया आज्ञा से करना। महानिर्ग्रन्थो ने जिन नियम-उपनियमो का पालन किया है, उन्ह आचरण म लाना और जो अनाचीर्ण ह, उनका आचरण न करना, आज्ञा लिए बगर कोई भी क्रिया न करना।

जिन कवियो की कविताएँ, विचारको के विचार ज्ञानियो की शिक्षाएँ, आगमधरो की धारणाएं ग्रहण की हो उनका सदैव आभार मानना धारण अस्तेय-व्रत है।

ब्रह्मचर्य का अथ होता है—रूप और रूप-सहगत पुद्गलो म अनासक्त होना।

रूप और रूप-सहगत पुद्गल क्या है ?

इसका विवेचन निम्नोक्त है—

शंका—जीव और पुद्गल , इन दो द्रव्यों में ही परिग्रह समाविष्ट हो जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये चार द्रव्य अरूपी हैं, अमूर्त हैं और इनसे सर्वथा निवृत्ति भी नहीं हो सकती। फिर इनकी गणना परिग्रह में क्यों की गई ?

समाधान—जहाँ तक जीव और पुद्गल का संबंध है, वहाँ तक उक्त चारों का सम्बन्ध नियमेन है, अर्थात—जहाँ तक कर्मों के साथ सम्बन्ध है, वहाँ तक नियमन छहों द्रव्यों के साथ सम्बन्ध है। जो आत्मा आठ प्रकार के कर्मों से रहित है, वे अपरिग्रही हैं। आत्म भाव को छोड़कर शेष सभी द्रव्य-पर-भाव हैं। पर भाव-से सम्बन्ध विच्छेद करना ही वस्तुत अपरिग्रह है। अपरिग्रह आत्म-भाव है पर भाव नहीं। विभाव परिणति को परिग्रह कहते हैं, और स्वभाव परिणति को अपरिग्रह।

आश्रव और बन्ध परिग्रह है। संवर निर्जरा और मोक्ष अपरिग्रह हैं। अपरिग्रह का पूर्ण विराम १४ वें गुण-स्थान में ही होता है। वही अवस्था सादि अनन्त कहलाती है।